प्रकाशक—

सन्मति-ज्ञान-पीठ

लोहामण्डी, आगरा।

सम्वत् २०११

सन् १९५४

मूल्य २)

मुद्रक—

नागेन्द्रनाथ शर्मा गोस्वामी,

दी कौरोनेशन प्रेस,

फुलहट्टी बाजार, आगरा।

फ़ोन नं० १७१

नम्र-निवेदन

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह नामक इन पाँच महाव्रतों की महत्ता को संसार का प्रत्येक जीवित-धर्म अपने सहज-भाव से स्वीकार कर स्वयं में महान् गौरव का अनुभव करता है। और ये पाँच महाव्रत जैन-धर्म के तो मानों प्राण ही हैं। वास्तव में, इन्हीं पाँच तत्त्वों से जैन-धर्म का मूल-रूप निर्मित हुआ है और उसकी विराट आत्मा इसी में विराजमान् है। अगर हम इन पाँच महाव्रतों मे से एक भी व्रत को भूल जाते हैं तो सच मानिये, हम जीवनोन्नत्ति के शिखर के सोपान पर अपने सुदृढ़ क़दम नही रख पाते। हमारे क़दम डगमगा जाते है और हम आत्मा से परमात्मा नही बन पाते—जिसका अहर्निश गान करता हुआ जैन-धर्म आज भी संसार में अपने विराट् रूप में जीवित है।

सन्मत्ति ज्ञान-पीठ के मंत्री होने के नाते मुझे हर्ष ही नहीं अपार हर्ष होता है कि कवि श्री मुनि अमरचन्द जी महाराज की अमृतमयी-वाणी, जो मरुभूमि के विराट नगर ब्यावर (अजमेर) में प्रवाहित हुई, को लिपिवद्ध करा कर आज इस 'अपरिग्रह-दर्शन' के रूप में इस ओर की पाँचवीं पुस्तक भी पाठकों के समक्ष रख-सकने में मै समर्थ हुआ हूँ। 'अहिंसा-दर्शन' 'सत्य-दर्शन' 'अस्तेय-दर्शन' और 'ब्रह्मचर्य-दर्शन' क्रमशः इस ओर की चार

पुस्तकें पाठकों के कर-कमलों में पहिले ही पहुँच चुकी हैं—और यह सौभाग्य का विषय है कि सभी धर्मों के अनेक प्रेमी-पाठकों ने कवि-श्री की वाणी की और सन्मति ज्ञान-पीठ के इस प्रयत्न की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। विश्वास है, इस ओर की यह पाँचवीं पुस्तक 'अपरिग्रह-दर्शन' भी आत्म-दर्शन के प्रेमी पाठकों को उतनी ही हृदयग्राही एवं लाभप्रद जान पड़ेगी, जितनी कि उपर्युक्त चारों पुस्तकें।

वास्तव में, श्रद्धेय महाराज की सर्वतोमुखी प्रतिभा, विस्तृत अध्ययन और चमत्कारपूर्ण तर्कों ने इन कठिन-साध्य विषयों को भी इतना सरल, हृदयग्राही एवं रुचिकर बना दिया है कि मनुष्य-मात्र के मन में वे सहज भाव से उतरते हुए चले जाते हैं-और भूले-भटके भाइयों के सम्मुख भी उनके जीवन का वास्तविक स्वरूप मूर्तिमान् होकर खड़ा हो जाता है। और इस भाँति वे अपने जीवन के वास्तविक स्वरूप के दर्शन कर जीवन के लक्ष्य की ओर अनायास ही बढ़ चलते हैं—तो,..........।

आशा है, सहृदय पाठक इस पुस्तक की महत्ता को स्वीकार कर मुझे आभारी करेंगे।

विनीत—

रतनलाल जैन

मन्त्री, सन्मति ज्ञान-पीठ,

आगरा,

दो शब्द

संसार के सभी धर्म अहिंसा और सत्य को संस्कृति का आधार मान कर चलते हैं। जब तक हमारे पारस्परिक व्यवहार में ईमानदारी नहीं आती, एक दूसरे की लाश पर अपना महल खड़ा करने के स्थान पर परस्पर सहयोग की भावना जागृत नहीं होती, तब तक लाख आविष्कार करने पर भी मानव दानव ही बना रहेगा। मानवता के विकास का मापदण्ड पृथ्वी, आकाश और जल पर आधिपत्य नहीं; किन्तु अपने पर आधिपत्य है।

अहिंसा को आदर्श रूप में स्वीकार करने पर भी इस बात पर बहुत कम सोचा गया है कि उसे जीवन मे कैसे उतारा जाय। यदि हम यह मान कर चलते हैं कि 'जीवो जीवस्य जीवनम्' तो अहिंसा केवल सिद्धान्त की बात रह जाती है। जीने की इच्छा प्रत्येक प्राणी में स्वाभाविक रूप से विद्यमान है और उसकी पूर्ति यदि दूसरे के प्राणों पर निर्भर है तो हो चुका। फिर सारे संसार को आत्मरूप मान कर मित्रता का उपदेश ऐसा ही है जैसे भूखे को कहा जाय—'रोटी में भी तुम्हारी आत्मा है, इसलिये इसे मत खाओ।'

इस प्रश्न का उत्तर जैन परम्परा ने दिया है। उसने कहा, 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धान्त जंगली पशुओं के लिए हो सकता है, जो परस्पर सहयोग से रहना नहीं जानते। मानव जीवन का आधार तो 'परस्परोंपग्रहो जीवनाम्' है। अर्थात् एक जीव दूसरे जीव का उपकारी या सहयोगी बनकर भी जी सकता है। यदि हम गाय की सेवा करके दूध का कुछ हिस्सा प्राप्त कर लेते हैं तो यह परस्परोपग्रह है। इसके विपरीत गाय का मांस खाना 'जीवो जीवस्य जीवनम्' है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने केवल त्याग का उपदेश नहीं दिया; किन्तु मानव जीवन के सुख पूर्वक निर्वाह के लिए एक नया दृष्टिकोण भी दिया।

किन्तु परस्परोपग्रह का सिद्धान्त बता कर ही वे चुप नहीं रहे। उसे जीवन में उतारने के लिए उन्होंने एक नया सिद्धान्त उपस्थित किया। और वह है अपरिग्रह।

व्यक्ति, समाज या राष्ट्रों में परस्पर संघर्ष का कारण यह नहीं है कि उनके पास निर्वाह के साधनों की कमी है। संसार की जन-संख्या जितनी है उसे देखते हुए उपज कम नहीं है। फिर भी कृत्रिम अभाव की सृष्टि की जाती है। एक व्यक्ति आग तापने के लिए दूसरे की झोंपड़ी को जला डालता है। स्वयं सारा जीवन और बेटे, पोते पड़पोतों तक निश्चिन्त बनने के लिए पड़ोसी के भूखे बच्चों के मुँह से रोटी छीन लेता है। जब तक इस प्रकार संग्रह बुद्धि बनी रहेगी, अहिंसा और सत्य के उपदेश जीवन में नहीं उतर सकते। इसीलिए भगवान्

महावीर ने अपरिग्रह पर जोर दिया है।

इसकी व्याख्या कई प्रकार से की जाती है। यदि समाज को सामने रक्खा जाय तो इसका अर्थ है संचय का अभाव। इसका अर्थ है अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करके दूसरों की सुख-वृद्धि में सहायक होना।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो इसका अर्थ है स्व को घटाते घटाते इतना कम कर देना कि पर ही रह जाय, स्व कुछ न रहे। उपरोक्त व्याख्या बौद्ध दर्शन की है। वेदान्ती इसी को दूसरे रूप में प्रस्तुत करता है। वह कहता है, स्व को इतना विशाल बना दो कि पर कुछ न रहे। दोनो का अन्तिम लक्ष्य है 'स्व' और 'पर' के भेद को मिटा देना और यही आध्यात्मिक अपरिग्रह है। जैन दर्शन एक यथार्थवादी बन कर इसी को अनासक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है। वह कहता है, व्यक्तियों में परस्पर भेद तो यथार्थ है और रहेगा ही। भेद की सत्ता हमारे विकास को नहीं रोक सकती। किन्तु अपने को किसी एक वस्तु के साथ चिपका देना ही विकास की सबसे बड़ी बाधा है। इसी को मूर्छा शब्द से पुकारा गया है। इस प्रकार अपरिग्रह का सिद्धान्त समाज और व्यक्ति दोनों के विकास का मूलन्तर मन्त्र बन गया है।

धन, सम्पत्ति, सन्तान, शरीर आदि बाह्य वस्तुओं में आसक्ति तो परिग्रह है ही, किन्तु मेरे मन मे कई बार एक विचार और भी आया। क्या अपने विचारों के प्रति आसक्ति परिग्रह नहीं

है ? यदि मनुष्य प्रत्येक 'सत्यं, शिवं सुन्दरं' को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहे, अपने हृदय के द्वार खुले रक्खे, सत्य का अन्वेषक बन कर अपने विचारों में परिवर्तन के लिए तैयार रहे तो धर्म और ग्रन्थों के झगड़े समाप्त हो जांय। मेरी दृष्टि में 'विचारों में अपरिग्रह' का ही दूसरा नाम 'स्याद्वाद' है। और यह जैन-धर्म की सब से बड़ी देन है।

प्रस्तुत पुस्तक में अपरिग्रह महाव्रत के उपासक एक सन्त ने इसी विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उनकी भूमिका में विशाल अध्ययन और मनन तो है ही, दीर्घ-कालीन अनुभव भी है। उनके विचार समाज तथा व्यक्ति के लिए प्रकाशदायक होंगे, ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।

कार्तिकी पूर्णिमा २०११
रामजस कॉलेज,
देहली।

डा० इन्द्रचन्द्र
एम. ए., पी. एच. डी.,
शास्त्राचार्य वेदान्त वारिधि,

विषय-सूची

उद्‌बोधन

विरम विरम सङ्गान्
मुञ्च मुञ्च प्रपञ्चम् ।
विसृज विसृज मोहं
विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम् ॥
कलय कलय वृत्तं
पश्य पश्य स्वरूपम् ।
कुरु कुरु पुरुषार्थं
निर्वृतानन्द–हेतोः ॥

—आचार्य शुभचन्द्र ।

अपरिग्रह-दर्शन

आवश्यकताएँ और इच्छाएँ

मनुष्य जब तक संसार मे रहता है, उसे जीवन की आवश्यकताएँ घेरे रहती हैं। जीवन को क़ायम और सक्रिय रखने के लिए उसे कुछ न कुछ चाहिए ही। यह सम्भव नहीं कि शरीर क़ायम भी रहे और उसकी आवश्यकताएँ न हो।

मगर एक बात हमें ध्यान में रखनी चाहिए। बहुत बार मनुष्य अपनी इच्छा, हविस या अपनी आसक्ति को ही अपनी आवश्यकता मान बैठता है। वह उनकी पूर्ति के प्रयत्न में लग जाता है, तो अपनी सारी शक्तियों को उन्हीं को समर्पित कर देता है। वह ज्यों-ज्यों अपनी हविस को पूरा करता जाता है, नई-नई हविस उसके मन में पैदा होती जाती है। एक इच्छा पूरी हुई नहीं कि सौ नवीन इच्छाएँ उत्पन्न हो गईं। तो प्रश्न,

होता है कि अब वह अपनी किस-किस इच्छा की पूर्ति करे और किस-किस की नहीं ? और वह अपने इसी प्रश्न में उलझ जाता है, तो, अन्त में वह यही तय करता है कि उसे अपनी सभी इच्छाओं की पूर्ति करनी है और परिणाम यह होता है कि वह अपनी सारी जिन्दगी अपनी इच्छाओं की पूर्ति मे ही समाप्त कर देता है। जिन्दगी समाप्त हो जाती है, परन्तु इच्छाएँ समाप्त नहीं होतीं। इस प्रकार अधिकाँश मनुष्य अपनी मूल्यवान् जिन्दगी को यूँही बर्बाद कर देते हैं। और आज अपने विराट रूप में सर्वत्र यही दिखाई दे रहा है !

अतएव हमें समझ लेना चाहिए कि आवश्यकता एक चीज़ है और इच्छा या आसक्ति दूसरी चीज़। आज संसार में जो भी संघर्ष हैं, वे आवश्यकता और इच्छा के अन्तर को न समझने के कारण ही उत्पन्न हुए हैं।

यह ठीक है कि जहाँ तक आवश्यकताओं का प्रश्न है मन समाधान चाहता है। और यदि मनुष्य उसका समाधान नहीं करता है तो वह दुनियाँ के मैदान मे टिक नहीं सकता है ! तो इस रूप में, जहाँ तक आवश्यकताओं का प्रश्न है, कोई भी धर्म इस दिशा में इन्सान के हाथ-पैर नहीं पकड़ेगा; और न कोई पकड़ने की कोशिश ही करेगा ; और अगर करेगा तो वह सफल नहीं होगा। किन्तु यदि इच्छाओं को ही आवश्यकता समझ लिया गया तो मनुष्य, मनुष्य नहीं रह जायगा। वह अपने जीवन को भी नष्ट करेगा और दूसरों के जीवन को भी !

फिर वह तो दैत्य के रूप में संहार करना शुरू कर देगा! अतएव सभी धर्मों ने इच्छा और आवश्यकता के अन्तर को समझने पर बल दिया है।

जैन-धर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है। उसकी साधना बहुत बड़ी है और उसने बुराइयों को धोने के लिए ज्ञान का निर्मल जल दिया है। किन्तु हमे जानना चाहिए कि जैनधर्म आदर्शवादी भी है और यथार्थवादी भी।

जैनधर्म का आदर्शवाद यह है कि वह हमारे समक्ष एक महान् जीवन का चित्र उपस्थित करता है। वह साधक को दौड़ने के लिए कह रहा है और कह रहा है कि जहाँ तू है केवल वहीं तू नही है। आज जहाँ तेरी स्थिति है, वहीं तेरी मंजिल नहीं है। तुझे आगे जाना है, बहुत आगे जाना है और इतना आगे जाना है कि जहाँ राह ही समाप्त हो जाती है। तूने जो कुटुम्ब-परिवार पा लिया है, उसी का उत्तरदायित्व तेरे लिए नही है। तेरी यात्रा वहीं तक सीमित नहीं है। तेरी यात्रा बहुत लम्बी है। तेरी यात्रा उस छोटे से घेरे से निकल कर अपने आपको विशाल संसार में घुला-मिला देने की है। यही आत्मा के विराट स्वरूप की प्राप्ति है। तो, जब मनुष्य इतना विशाल और इतना महान् बन जाता है कि सारे संसार मे घुल-मिल जाता है, क्षुद्र से विराट बन जाता है और उसके मानस-सरोवर में उठने वाली अहिंसा और प्रेम की लहरो से समग्र संसार व्याप्त हो जाता है, तब उसमें भगवत्स्वरूप जाग जाता है। जिसे उस भगवत्स्व-

रूप की प्राप्ति हो जाती है, उसे हम अर्हन्त या ईश्वर के रूप में पूजने लगते हैं। यह जैनधर्म का आदर्शवाद है और बहुत ऊँचा आदर्शवाद है।

किन्तु जैनधर्म कोरा आदर्शवादी नहीं, यथार्थवादी भी है। कोरा आदर्शवाद ख़याल ही ख़याल होता है। वह प्रेरणा चाहे दे सके, प्रगति नहीं दे सकता। संसार में कोरी कल्पनाओं से काम नहीं चलता। कल्पना के आकाश में तीव्र वेग से उड़ने वाले की अपेक्षा, धरती पर चार क़दम चलने वाला कहीं अधिक अच्छा है। वह थोड़ा चला है, पर वास्तव में चला तो है। हाँ आदर्शवाद भी जीवन में आवश्यक है और उसके अभाव में गति का कोई लक्ष्य और उद्देश्य ही नहीं रह जाता, किन्तु यथार्थता को भुला देने पर आदर्शवाद बेकार हो जाता है।

तो आदर्श के पीछे, जहाँ मनुष्य के पैर टिके हैं, उस ज़मीन को भी हमें नहीं भूलना है। आँखों की धारा तो बहुत दूर तक बहती है, किन्तु आँखों में और पैरों में अन्तर रहता है। यह नहीं हो सकता कि जहाँ आँखें है, वहीं पैर भी लग जाएँ। जोवन की जो दौड़ है, उसको क़दम-क़दम करके पूरा करना पड़ता है। आँखें तो बहुत दूर पर अवस्थित पहाड़ की ऊँची चोटी को, पल भर की देर किये बिना ही देख लेती हैं, और मन कह देता है कि हमें वहाँ पहुँचना है; परन्तु पैर तो आँख या मन के साथ दौड़ नहीं लगा सकते। उन्हें तो क़दम-क़दम करके ही चलना पड़ेगा।

अतएव जैनधर्म आदर्शवाद और यथार्थवाद का समन्वय

करता है और कहता है कि जब तक मनुष्य गृहस्थ-अवस्था में है, उसके साथ अपना परिवार भी है, समाज भी है और राष्ट्र भी है। इन सब को छोड़ कर वह अलग नहीं रह सकता है। और जब अलग नहीं रह सकता है तो इन सब की आवश्यकताओं को भी नहीं भूल सकता है। अगर वह भूल जाएगा तो अपने आपको ही भूल जाएगा। अतएव गृहस्थ अपनी आवश्यकताओ की उपेक्षा नही कर सकता।

इसी कारण धर्मशास्त्र ने 'इच्छापरिमाण' का व्रत बतलाया है, 'आवश्यकतापरिमाण' का व्रत नहीं बतलाया। आवश्यकताएँ तो आवश्यकताएँ ही हैं और किसी भी आवश्यकता को भूला नहीं जा सकता—छोड़ देना तो असम्भव सा है। वास्तव में, वह आवश्यकता ही नहीं; जो छोड़ी जा सके। जो भूली जा-सके। यह तो इच्छा ही होती है, जो त्यागी जा सकती है।

मनुष्य की इच्छाएँ जब आगे बढ़ती हैं तो अनेक नई कल्पनाएँ जाग उठती हैं। और उन कल्पनाओ के कारण कुछ इच्छाएँ आवश्यकताओं का रूप धारण कर मनुष्य के जीवन में ठहर जाती हैं। और क्योंकि उन इच्छाओं को आवश्यकता समझ लिया जाता है, तो जीवन ग़लत रूप धारण कर लेता है। अतएव जैनधर्म कहता है कि ऐसी इच्छाओं को, जो तुम्हारी आवश्यकताओं से मेल नहीं खातीं और आगे-आगे बढ़ती जाती हैं, काट दो, समाप्त कर दो। जो अपनी इच्छाओ को, आवश्यकताओं तक ही सीमित रखता है, उसका गृहस्थ जीवन सन्तोषमय और

सुखमय बनता है, और वही साधना का पात्र बनता है। इसके विपरीत जो अपनी आकांक्षाओं और इच्छाओं को नियन्त्रित नहीं करता, उसका जीवन उस गाड़ी के समान है जिसमें ब्रेक न हो। ऐसी गाड़ी खतरनाक होती है। तो, जीवन की गाड़ी में भी ब्रेक का होना अत्यन्त आवश्यक है—अन्यथा वह ब्रेक-रहित गाड़ी के समान ही अन्धी दौड़ दौड़ेगा और उसी गाड़ी के समान दूसरों को भी कुचलेगा और स्वयं भी चकनाचूर हो जायगा।

तो, जैनधर्म कहता है कि जीवन की गाड़ी को चलाना तो है, किन्तु उस पर अंकुश रख कर ही चलाना होगा। जहाँ तक आवश्यकता है उसे वहीं तक ले जाए तो ठीक है। मगर उससे आगे ले जाना खतरनाक और ग़लत। अगर कहीं तुम्हारे स्वार्थ से दूसरे का स्वार्थ टकरा रहा हो तो अपने ही स्वार्थ को मत देखो। दूसरे की आवश्यकताओं का भी आदर करो। अपने स्वार्थ की गाड़ी को अन्धाधुन्ध उन पर मत चला दो। बचा कर चलाओगे तो हज़ारों गाड़ियाँ चलती रहेंगी, कोई टक्कर नहीं होगी। और यदि इस रूप में नहीं चलोगे तो टक्कर लगना अवश्यंभावी है और जहाँ दूसरों की गाड़ी चकनाचूर होगी, वहीं तुम्हारी गाड़ी भी चूर-चूर हो सकती है।

यही अपरिग्रहव्रत का आदर्श है। जहाँ तक जीवन की आवश्यकता का प्रश्न है, परिग्रह का महत्व समझा जा सकता है, किन्तु उसके आगे परिग्रह चले तो उस पर अंकुश लगा दो, फिर वह परिग्रह भी एक दृष्टि से अपरिग्रह हो जाता है।

इस रूप में आनन्द ने अपनी इच्छाओं का परिमाण किया तो उसकी समस्या हल हो गई। उसने जो सम्पत्ति प्राप्त कर ली थी, उसमे वढ़ोतरी नहीं की। उसके पास वहुत संचय था अतएव उसने उसका वढ़ाना एकदम वन्द कर दिया। उसने अपनी इच्छा और ममता पर अंकुश लगा दिया कि मेरे पास जो धन-सम्पत्ति है, उसे न अधिक वढ़ाऊँगा और न उससे अधिक रखूँगा ही! और इस रूप मे इच्छापरिमाण का महान् रूप उसके जीवन मे उतरा।

आज दुनिया मे जो संघर्ष है, और वह संघर्ष आज से ही नहीं है—अनन्त-अनन्त काल से चला आ रहा है—अगर उसके मूल को खोजने चलें तो पता लगेगा कि इच्छाओं की वहुल्यता ही उसका प्रधान कारण है। संसार में जो महायुद्ध हुए है, सम्भव है उनके कुछ कारण और भी हो, परन्तु प्रधान कारण तो मनुष्य की असीम इच्छाएँ ही है।

मनुष्य की इच्छाओ के असीमित रूप ने ही लाखो और करोड़ो मनुष्यों का रक्त वहाया है। जव मनुष्य ने आवश्यकता से अधिक पैर फैलाने की कोशिश की, तभी संघर्ष का वीजारोपण हुआ और जव पर फैलाये तो संघर्ष शुरू हो गया। जिनके पास थोड़े साधन हैं और थोड़ी शक्ति है, उनका संघर्ष भी छोटे पैमाने पर होता है और उसका दायरा भो सीमित होता है। किन्तु जो शक्तिशाली हैं, उनका संघर्ष सीमा को लाँघ जाता है और कभी-कभी वह विश्वव्यापी रूप भी धारण कर लेता है। महाभारत

का युद्ध क्यों हुआ ? जिस युद्ध की विकराल ज्वालाओं में भारत के चुनोदा योद्धा पतंगों की तरह भस्म हो गए, जिसने भारत में घोर अन्धकार फैला दिया, जिसको बदौलत देश श्मशान बन गया और शताब्दियों पर शताब्दियाँ बीत जाने पर भी न सँभल सका और जिस युद्ध को ज्वालाओं में भारत को संस्कृति, वीरता, ओज और तेज सभी कुछ भस्म हो गया, उस भीषण युद्ध का कारण इच्छाओं का असीमित रूप ही तो था।

दो भाई अपने जीवन को बँटबारा करके चलाएँ और आने वाली पीढ़ियों से यह न कहें कि वे अपने पुरुषार्थ से अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करें। जीवन को कला की सहायता से अपने जीवन का निर्माण और उत्थान करें। इसके विपरीत वे उनके लिए बड़े-बड़े महल छोड़ कर चले जांय तो वे पीढ़ियाँ उन ईंटों को ही देखेंगी और पुराने महलों की गिरती हुई ईंटें उनका सिर फोड़ती रहेंगी।

पाण्डवों और कौरवों के धन का बँटवारा हो गया तो दुर्योधन के मन में आया कि पाण्डवों के सोने के महल क्यों खड़े हैं ? वे प्रगति क्यों कर रहे हैं ? पाण्डवों को एक छोटा-सा राज्य मिला था, पर उन्होंने अपनी शक्ति से बहुत बड़ा साम्राज्य बना लिया है। और मुझे जो साम्राज्य मिला था, वह ज्यों का त्यों पड़ा है। वह तनिक भी नहीं बढ़ सका।

वास्तव में जब वस्तु को बढ़ाने की कला किसी के पास नहीं होती तो वह छीना-झपटी करने पर ही उतारू हो जाते हैं।

सोचते हैं भाई की सम्पत्ति को छीन कर अपने कब्ज़े में कर लूँ। मगर यह ठीक तरीक़ा नही है। मनुष्य की अगर कोई वास्तविक आवश्यकता भी है तो उसकी पूर्ति का यह ढंग नहीं हो सकता। एक आदमी नंगा है। वह दूसरों के वस्त्र छीन ले तो पहले के बदले दूसरा नंगा हो जायगा। एक भूखा है और दूसरे के पास रोटी है और भूखा उससे रोटी छीन लेता है तो दूसरा भूखा रह जायगा। जब तक वस्तु परिमित है और उसका नवीन उत्पादन नही हो रहा है और उपभोक्ता अधिक हैं, तब तक समस्या कैसे हल होगी ? तो, मैं कह रहा हूं कि छीना-झपटी सस्मया का कोई स्थाई और सही हल नहीं है।

दुर्भाग्य से भारतवर्ष मे उत्पादन करने पर ध्यान नहीं दिया जाता है। संघर्षों से लड़ा नहीं जाता है और अपने हाथों जीवन निर्माण करने की कला नहीं सिखाई जाती है। यह कला सिखाई गई होती तो जो सम्पत्ति प्राप्त की जाती वह सम्पत्ति ख़ुद की न बन कर परिवार की, समाज की या राष्ट्र की होती।

तो दुर्योधन ने उपार्जन करने की कला सीखी नहीं और सीखने का प्रयत्न भी किया नहीं, तो उसने अपने भाइयो का साम्राज्य छीन लिया। इस प्रकार परिग्रह में से जूआ, अन्याय और अत्याचार निकल कर आया। और उसका परिणाम कितना भयंकर हुआ।

कृष्ण, दुर्योधन के पास जाते हैं और एक दूत के रूप में खड़े हो जाते है। कृष्ण कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे। वे संसार के

महान् नायक थे और उनकी भृकुटि से संसार में भूकम्प आ सकता था। वे अपनी मान मर्यादा की परवाह न करके एक साधारण व्यक्ति की तरह, दूत के रूप में जाकर खड़े हो जाते हैं और भिक्षा के लिए पल्ला पसार देते हैं।

मैं समझता हूँ, समय-समय पर अनेक राजनीतिज्ञों ने अनेक भाषण दिये हैं, पर कृष्ण का वह भाषण एकदम अनूँठा था। वह इतिहास में आज तक सुरक्षित है और इतना महान् है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ के लिए पढ़ने और गुनने की चीज़ है।

जीवन को कैसे चलाना है और कैसा बनाना है, इस सम्बन्ध में कृष्ण ने एक अपने उस भाषण में बहुत कुछ कहा है। वे कहते हैं—मैं चाहता हूँ कि पाण्डव भी सुरक्षित रहें और दुर्योधन भी सुरक्षित रहे और कौरवों का जीवन भी महान् बने। यह सोने के महल गिरने को नहीं हैं। अगर मेरी बात पर कान न दिया गया और रक्त की नदियाँ बहीं, जीवन में ही भाई से भाई जुदा हुए, आपस में एक दूसरे के गले काटे गए, तो मैं समझता हूँ कि जितना उनका ख़ून बहेगा, उससे अधिक मेरी आँखों से आँसू बहेगे। तो दुर्योधन, यदि तुम पाण्डवों को ज्यादा नहीं दे सकते हो तो केवल पाँच गाँव ही दे दो। पाँच गाँवों से भी पाँच पाण्डव अपना जीवन चला लेंगे।

संसार में कभी-कभी ऐसी घटनाएँ भी देखने में आती हैं? जिस साम्राज्य को बढ़ाने के लिए पाण्डवों ने दुनिया भर से टक्करें ली थीं और तब कहीं वह साम्राज्य बन पाया था, आज वे उसी

साम्राज्य में से पाँच ही गाँव लेने को तैयार हैं। वे इतने से ही अपना काम चला लेंगे, अपना जीवन निभा लेंगे और उन्हे ज्यादा कुछ नहीं चाहिए।

इस प्रकार एक तरफ़ इच्छाओं को रोकने की सीमा आ गई। जो पाण्डव सोने के महलो मे रहते थे, वे आज झोंपड़ी मे रहने को तैयार हो गए। और दूसरी तरफ वे असीमित इच्छाएँ हैं कि अपना साम्राज्य तो था ही, दूसरों का भी साम्राज्य मिल गया फिर भी उन इच्छाओ की पूर्ति नहीं हो पाई ?

वास्तव मे परिग्रह का भूत जब जिसके सिर पर सवार हो जाता है तो उसे वावला ही वना कर छोड़ता है। वह चारो ओर से मनुष्य को पकड़े रहता है, वह मनुष्य के किसी भी अंग को खाली नहीं छोड़ता। क्या मजाल कि परिग्रह के भूत से ग्रस्त मनुष्य, मन से या वाणी से उसके विरुद्ध कोई हरक़त कर सके, कुछ ले सके या कुछ दे सके। इस प्रकार जीवन का कोई भी अंग उसकी पकड़ से खाली नही रहता और इस रूप मे मनुष्य का सारा जीवन जड़ वन जाता है।

दुर्योधन के सिर पर परिग्रह का जवर्दस्त भूत सवार था। पाण्डवों के लिए कृष्ण की उस छोटी-सी माँग के उत्तर मे उसने कहा—

सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !

हे केशव ! तुम तो पाँच गाँवों को देने की वात कहते हो, न जाने वे कितने बड़े होंगे, परन्तु मै तो सुई की नोक के बराबर

ज़मीन भी पाण्डवों को नहीं दे सकता। युद्ध के बिना मैं उन्हें कुछ भी नहीं दे सकता।

दुनिया भर के सम्राट रहे, सोने के महलों में रहने वाले रहे हैं और खज़ाने में साँप बन कर रहे हैं, उनकी भी यही अन्तर्ध्वनि रही है कि हम तो साँप हैं, हम अपने आप से तो देने से रहे, हाँ, मार कर ले जा सकते हो। जब तक ज़िंदा हैं, तब तक नहीं देंगे, समाप्त करके कोई भले ले जाय। यही दुर्योधन ने कहा।

दुर्योधन की इसी वृत्ति के परिणामस्वरूप इतना बड़ा महाभारत हुआ और रक्त की नदियाँ बह निकलीं तो दुर्योधन की परिग्रह की जो वृत्ति है, कुछ भी न देने की जो भावना है और जो कुछ पाया है उस पर साँप बन कर बठने की जो इच्छा है, लाखों वर्षों से इन्सान उसी के चक्कर में पड़ा हुआ है।

श्रेणिक तथा कोणिक के इतिहास की ओर दृष्टि दौड़ाइए। पिता और पुत्र के बीच कितने मधुर सम्बन्ध होने चाहिए? पिता अपने पुत्र के लिए क्या कामनाएँ और भावनाएँ रखता है? संसार भर में दो ही जगहें हैं, जहाँ इन्सान अपने आपको पीछे रखने की और दूसरे को आगे बढ़ाने की कला में हर्ष से झूम जाता है। हमारे यहाँ कहा है:—

'पुत्रादिच्छेत्पराजयम्।

'शिष्यादिच्छेत्पराजयम्।

एक सांसारिक क्षेत्र है और दूसरा धार्मिक क्षेत्र है। सांसारिक

क्षेत्र में पिता और पुत्र खड़े हैं और आध्यात्मिक क्षेत्र मे गुरु और शिष्य। गुरू अपने शिष्य को आगे बढ़ता ही देखना चाहता है। जितना उसने अध्ययन किया है, उससे शिष्य अगर आगे बढ़ जाता है तो गुरू हर्ष से विभोर हो जाता है। शिष्य की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को देखकर उसे प्रसन्नता ही होती है और उसकी प्रतिष्ठा मे चार चाँद लगाने के लिए ही वह अपने मन और वचन से लग जाता है। शिष्य की प्रतिष्ठा वृद्धि मे गुरू अपनी प्रतिष्ठा मानता है, अपने लिए गौरव की बात समझता है, अपने जीवन की सफलता समझता है।

और सांसारिक क्षेत्र में, पिता-पुत्र में, यह भावना और भी अधिक गहरी देखी जाती है। मनुष्य क्यो कमा रहा है? उससे पूछो तो वह अपने आपको भी अलग समेट लेता है और कहता है—मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, अपने बाल-बच्चो के लिए कर रहा हूँ। मतलब यह है कि उसने अपना अस्तित्व मिटा लिया है। और अपने अस्तित्व को अपने बाल-बच्चों मे ही बिखेर दिया है इस प्रकार वह अपने बाल-बच्चों के जीवन को बनाने मे ही लग जाता है, इसी के लिए अपनी समस्त शक्तियों का प्रयोग करता है और अपने आपको मिटा लेता है। पिता झौंपड़ी मे रहता है और पुत्र ने यदि सोने का महल बनवा लिया है, तो भी उसे ईर्षा नहीं होती, उसे बुरा नहीं लगता। वह पड़ौसी का सोने का महल देख कर भले ही सहन न कर सके, उसके निर्माण में विघ्न भी डाले, पर पुत्र का सोने का महल देखकर अतिशय आनन्द का ही

अनुभव करता है।

और पुत्र के मन में भी यही बात रहती है। वह जानता है, पिता जो कुछ भी कर रहा है, वह दुनिया के लिए नहीं कर रहा है, किसी ग़ैर के लिए नहीं कर रहा है। आख़िर पिता को जो भी मिल रहा है, वह आगे चलकर पुत्र को ही तो मिलना है।

इस रूप में, भारत में, पिता-पुत्र के बीच, बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहे हैं। इतने घनिष्ठ कि इससे अधिक घनिष्ठता अन्यत्र कहीं भी दुर्लभ है। किन्तु धन्य रे परिग्रह ! इस परिग्रह ने अमृत को भी विष बना दिया। जहाँ कहीं परिग्रह की वृत्ति बढ़ी और इच्छाओं का निरंकुश प्रसार हुआ कि वह अमृत भी विष बन गया, उस माधुर्य में भी कटुता पैदा हो गई और संहार मच गया।

अब श्रेणिक और कोणिक की बात सुनिए—पिता श्रेणिक बुड्ढे हो गए हैं और पुत्र कोणिक जवान—तो वह कुढ़ रहा है। राज्य करने की लालसा उसके मन में जाग उठी है—तो वह चाहता है कि सिंहासन जल्दी ख़ाली हो। वह सोचता है, दुर्भाग्य है कि पिता नहीं मर रहे हैं। उन्हें अब मर जाना चाहिए ! अब राज्य मैं करूँगा।

राजा श्रेणिक के जीवन की अन्तिम घड़ियाँ चल रही हैं। बहुत जीएंगे तो वर्ष दो वर्ष जी लेंगे। आख़िर कहाँ तक जीएँगे ? और तब कोणिक को ही वह सिंहासन मिलने वाला है। इसमें कोई सन्देह नहीं है, कोई ख़तरा भी नहीं। वही उनका उत्तरा-

धिकारी है। मगर कोणिक समय से पहले ही उसे खाली कराने का स्वप्न देख रहा है और शीघ्र से शीघ्र उस पर आसीन होने के मन्सूबे बना रहा है।

कोणिक को क्यों इतनी उतावली है? ऐसा तो नहीं है कि वह भूखा मर रहा है, नंगा रह रहा है या नंगे पैरों चल रहा है। साम्राज्य का सारा वैभव उसी का वैभव है और उसका वह मन-चाहा उपभोग कर सकता है। उसे कोई रोक-टोक नही है। उसकी जीवन की जितनी आवश्यकताएँ है, सब की सब पूरी हो रही है और वह ऐसी स्थिति मे है कि चाहे तो हजारों का पालन-पोषण कर सकता है। ऐसा भी नहीं है कि बूढ़े श्रेणिक ने ही अपनी मुट्ठियों मे सब कुछ बन्द कर रक्खा हो और कोणिक के हाथ मे कुछ भी न हो। साम्राज्य उसके हाथ मे है और हुकूमत उसके हाथ मे। श्रेणिक तो उस समय नाम के राजा थे और घड़ी-दो-घड़ी सिंहासन पर बैठ जाते थे।

किन्तु इच्छाओ ने कोणिक को घेरना शुरू किया और चाहा कि जल्दी से जल्दी हमारे लिए सिंहासन खाली होना चाहिए। पिता न दीक्षा लेते हैं और न मरते ही हैं। तीर्थङ्कर भगवान की वाणी सुनते-सुनते बाल पक गये है, मगर सिंहासन नहीं त्याग रहे है। नहीं त्याग रहे है तो त्याग करा देना चाहिए और नहीं मर रहे हैं तो मार देना चाहिए। इसके अतिरिक्त और उपाय ही क्या है?

बस, कोणिक निरंकुश इच्छाओं का शिकार होता है और

षडयन्त्र रच कर पिता को क़ैदखाने में डाल देता है।

मगध का विख्यात सम्राट श्रेणिक अब क़ैदी के रूप में अपनी ज़िन्दगी के दिन गिन रहा है। एक दिन वह उस दशा में था कि जब भगवान् महावीर के समवसरण में धर्मोपदेश सुनने जाता था तो सड़कों पर हीरे और मोती लुटाता जाता था। और आज, जीवन की अन्तिम घड़ियों मे वही प्रतापशाली सम्राट क़ैदी बना हुआ, पिंजरे में बन्द है।

तो पुत्र ने पिता को क़ैद कर के कारागार में डाल दिया और आप सम्राट बन बैठा। पर उसका परिणाम क्या निकला? क्या कोणिक की इच्छाएँ तृप्त हो गईं? उसे सन्तोष मिल गया—नहीं? निरंकुश इच्छाएँ कभी तृप्त नहीं होतीं। संसार का वैभव तृष्णा की आग के लिए घी का काम देता है। वह उस आग को बुझाता नहीं, बढ़ाता है। इसीलिए तो शास्त्रकार कहते हैं—

जहा लाहो तहा लोहो,
लाहा लोहो पवड्ढइ।

—उत्तराध्ययन

ज्यों-ज्यों धन-सम्पत्ति और वैभव की प्राप्ति होती जाती है, त्यों-त्यों मनुष्य का लोभ भी बढ़ता ही चला जाता है। लाभ से लोभ का उपशमन नहीं होता, वर्द्धन ही होता है। ऐसा क्यो होता है? शास्त्र में इस प्रश्न का भी उत्तर दे दिया गया है—

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

जैसे आकाश का कहीं ओरछोर नहीं है, कहीं समाप्ति नहीं

है, वह सभी ओर से अनन्त है, उसी प्रकार इच्छाएँ भी अनन्त हैं। सहस्राधिपति, लक्षपति बनने की सोचता है, लक्षपति कोट्यधीश बनने के मन्सूबे करता है और कोट्यधीश अरबपति बनने के सपने देखता है! राजा, महाराजा बनना चाहता है, महाराजा सम्राट् होने का गौरव प्राप्त करना चाहता है। और एक सम्राट दूसरे सम्राट को अपने पैरों पर झुकाना चाहता है! इस स्थिति में विराम कहाँ? विश्राम कहाँ? तृप्ति कहाँ? तृप्ति इच्छाओं के प्रसार में नहीं, निरोध में है। तृप्ति बाहर नहीं भीतर है। तृप्ति अक्षय कोष में नहीं, तोष में है।

मगर दुनियाँ के साधारण लोगों की तरह कोणिक ने भी इस तथ्य को नहीं समझा था। तो, वह सम्राट बन कर भी तृप्त नहीं हो सका। उसने अपने पिता को क़ैद करके कारागार मे डाल दिया और सिंहासन पर कब्जा कर लिया। इसके बाद उसकी निगाह अपने भाइयों की तरफ़ दौड़ी। उनके पास क्या था? मनोरंजन के लिए हार था और हाथी था। मगध के विशाल साम्राज्य की तुलना में हार और हाथी का क्या मूल्य?

कहा जा सकता है कि अपने भाइयों का हार और हाथी लेने की इच्छा अपने आप कोणिक के मन में उत्पन्न नहीं हुई थी। वह तो उसकी पत्नी के द्वारा उत्पन्न की गई थी; मगर चाहे कोई स्वयं आग में कूद पड़े या किसी के कहने से आग में कूदे, नतीजा तो एक समान ही होगा। हर हालत में उसे झुलसना पड़ेगा। हार और हाथी को हथिया लेने की हविस चाहे स्वयं पैदा हुई, चाहे

रानी के कहने से पैदा हुई, यह अपने आप में कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। तथ्य यह है कि कोणिक के दिल में वह इच्छा उत्पन्न हुई। और एक दिन कोणिक ने उनसे कहा-अपना हार और हाथी मुझे दे दो।

भाइयों ने उत्तर दिया—हमें राज्य का कोई हिस्सा नहीं मिला है और उसके बदले में यह दो चीजें मिली हैं। यह लेनी हैं तो राज्य का हिस्सा दे दो।

कोणिक ने कहा—राज्य मुझे मिला नहीं है। मैंने उसे पाया है। इसमें से कुछ नहीं मिलेगा। मुझे हार और हाथी दे दो।

जब यह वृत्तियाँ जागती हैं कि देने को कुछ नहीं है, किन्तु लेने को सब-कुछ है, तो तीखी तलवारें बाहर आने से पहले ही मन में फिर जाती हैं! और जब वह बाहर आ जाती हैं तो घमासान मच जाता है!

तो कोणिक ने इस घटना को लेकर अपने भाइयों के आश्रयदाता अपने नाना के साथ अनेक अत्याचार किये और अनेकों का ख़ून बहाया!

संसार में ऐसे व्यक्ति भी होते हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए और अपनी लोलुपता के लिए करोड़ों मनुष्यों का रक्त बहाने में संकोच नहीं करते और स्नेही गुरुजनों की हत्या का कलंक भी अपने शीश पर ओढ़ने को तैयार हो जाते हैं! यह सब क्या चीज़ है? आख़िर मनुष्य इस प्रकार पिशाच क्यों बन जाता है? कौन-सी कुशक्ति उसके विवेक को कुचल देती है? यह सब बढ़ती

हुई इच्छाओं का प्रताप है। जिसने अपनी इच्छाओं को स्वच्छन्द छोड़ दिया और उन पर अंकुश नहीं लगाया, वह मानव से दानव बन गया !

और वह दानव जब इच्छाओ पर नियन्त्रण स्थापित कर लेता है और सही राह पर आ जाता है, तो फिर मानव और कभी-कभी महामानव की कोटि में भी आ जाता है। और इस रूप में बड़े विचित्र इतिहास हमारे सामने आते हैं।

कई ऐसे भी होते है जो अपने-परायों का खून बहाकर जनता की निगाह मे ऊँचा बनने के लिए बाद में भक्त बन जाते हैं। कोणिक ने यही किया। घोर अत्याचार करने के बाद वही कोणिक, भगवान महावीर का शिष्य बनता है और जब तक उनके कुशल समाचार नहीं सुन लेता है, पानी का घूँट भी मुँह में नही लेता है। वह उस गन्दगी को साफ करना चाहता है और उन धब्बों को धोने के लिए महापुरुषों के चरणों का आश्रय लेता है।

भगवान् महावीर के सामने हजारो की सभा जुड़ी है। कोणिक ने चाहा कि भगवान् महावीर से मर कर स्वर्ग पाने का फ़तवा ले लूँ। वह सोचता है कि मैंने जो भक्ति की है, उससे मेरे सभी पाप धुल गये।

सच्ची भक्ति से पाप धुल भी सकते हैं, किन्तु जहाँ दिखावा ही है और अपनी प्रतिष्ठा को क़ायम रखने की ही भावना है, जहाँ मन में भक्ति का सच्चा और निर्मल झरना नहीं बहा है, वहाँ एक भी धब्बा नहीं धुलता है।

तो कोणिक ने प्रश्न किया—प्रभो! मैं मर कर कहाँ जाऊँगा?

भगवान् ने कहा—यह प्रश्न मुझसे पूछने के बदले, तुम्हें अपने मन से पूछना चाहिए और उसी से मालूम करना चाहिए। प्रश्न का उत्तर देने वाला तो तुम्हारे अन्दर ही बैठा है। तुम्हें स्वर्ग और नरक की कला तो बतलाई जा चुकी है। अब तुम अपने अन्तरात्मा से ही पूछ लो कि कहाँ जाओगे?

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला हवन्ति,
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला हवन्ति।

अच्छे कर्मों का अच्छा फल मिलता है और बुरे कर्मों का बुरा फल मिलता है।

गेहूँ बोने वाले को गेहूँ की ही फ़सल मिलेगी, यह नहीं कि जब वह फ़सल काटने जायगा तो उसे गेहूँ के बदले जुवार की फ़सल खड़ी मिले। और जो कीकर बो रहा है उसे आम कहाँ से मिल जाएँगे? यह तो निसर्ग का अटल नियम है। इसमें कभी विपर्यास नहीं हुआ, कभी उलट फेर नहीं हो सकता है। अनन्त-अनन्त काल बीत जाने पर भी यह नियम ज्यों का त्यों रहने वाला है।

यह जीवन राक्षस-जीवन है या दिव्य-जीवन है, इस प्रश्न का निर्णय यहीं होना चाहिए और स्पष्ट निर्णय हो जाना-चाहिए। जो इस अटल और ध्रुव सत्य को भली-भाँति पहचान लेगा, वह निर्णय भी कर लेगा।

तो, जीवन का अर्थ क्या है? जो यहाँ देवता बना है, उसको

यहीं मालूम होना चाहिए कि वह आगे भी देवता बनेगा, और जिसने दूसरो के आँसू बहाये है, दूसरो की ज़िन्दगी में आग पैदा की है, दूसरों का हाहाकार देखा है और देख कर मुस्कराया है, वह आदमी नहीं राक्षस है और उसके लिए देवता बनने की बात हज़ारों कोस दूर है। उसके लिए तो वही बात होगी कि उस पर दुनिया हँसेगी और वह रोएगा।

स्वर्ग की कामना करे और नरक के योग्य काम करे, तो स्वर्ग कैसे मिल जायेगा ? इसके विपरीत, मनुष्य संसार मे कहीं भी हो, यदि उसके विचार पवित्र हैं और उसने दुनियाँ के काँटों को चुना है—हटाया है, मार्ग को साफ किया है, किसी भी रोते हुए को देखकर उसके हृदय से प्रेम की धारा बही है, तो फिर स्वर्ग उसे मिलेगा ही। ऐसे व्यक्ति को स्वर्ग नहीं मिलेगा तो किसे मिलेगा ?

तो, अपने जीवन को देखो और अपने ही मन से बात करो, तो पता चल जाएगा कि तुम्हारा अगला जीवन क्या बनने वाला है ? हमें कई लोग मिलते है और पूछते है कि अगले जन्म में हम क्या बनेंगे ? मैं उन्हे उत्तर देता हूँ तीन जन्मों को जानने के लिए तो किसी सर्वज्ञ की आवश्यकता नहीं है। और जब ऐसी बात कहता हूँ तो लोग कहते हैं—सीमंधर स्वामी से पूछने से पता चल सकता है ? किन्तु मैं कहता हूँ—सीमंधर स्वामी के भी पास जाने की क्या ज़रूरत है ? वह जो कहेंगे, कर्मों के अनुसार ही कहेगे। कोई नवीन बात क्या कहनी है ? जो भ० महावीर कह गये हैं, वही सीमंधर स्वामी भी कहेगे । आखिरकार वहाँ भी

विश्वास रखना पड़ेगा । भगवान् महावीर ने मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारक बनने के कारण बतला दिये हैं । अब उसमें कोई नई बात जुड़ने वाली नहीं है । इस प्रकार मनुष्य को अपने तीन जन्मों का पता लगाने में तो कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए ।

तुम अपने पहले के जीवन को देखो । जो पहले करके आए थे, उसी के अनुरूप यहाँ मिल गया । जिसने पहले कुछ नहीं किया, उसे यहाँ कुछ नहीं मिला और जो यहाँ कुछ नहीं कर रहा है, उसे आगे कुछ मिलने वाला नहीं है । इस प्रकार तीन जन्मों के पुण्य-पाप की कहानियाँ तो यहीं मौजूद हैं । उन्हें जानने के लिए सर्वज्ञ की कोई आवश्यकता नहीं है । दुर्भाग्य से इससे आगे हमारी बुद्धि नहीं जाती है, मगर फिर भी हम इतना जानते हैं कि अनन्त—अनन्त जीवन गुज़र जाने के बाद भी यही होगा कि अच्छे कर्मों का अच्छा फल मिलेगा और बुरे कर्मों का बुरा फल मिलेगा ।

हां, तो राजा कोणिक ने भगवान् महावीर से अपने भावी जन्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया और भगवान् ने कह दिया कि इस प्रश्न का उत्तर तो तुम्हारी अन्तरात्मा भी दे सकती है । उसी से पूछ लो । किन्तु जब कोणिक ने विशेष आग्रह किया तो भगवान् ने कहा—राजन, तुम इस शरीर को त्याग कर छठे नरक में जाओगे ।

कोणिक ने यह उत्तर सुना तो जैसे उस पर वज्र गिर पड़ा ! उसकी सारी मिल्कियत लुट गई ! उसको आशा थी कि भगवान्

किसी ऊँचे स्वर्ग का नाम बतलाएंगे! उसने जिस प्रभु से यह आशा की थी, वे सम्राट का लिहाज़ करने वाले नहीं थे! वह भ० महावीर से स्वर्ग ख़रीदना चाहता था, पर स्वर्ग न कौड़ियों से ख़रीदा जा सकता है और न धर्म का दिखावा करने से ही ख़रीदा जा सकता है।

कोणिक हैरान था! वह कहने लगा—भगवन्! मैं आपका इतना बड़ा भक्त हूँ-फिर भी मैं मर कर नरक मे जाऊंगा?

मगर वह यह नहीं देखता कि भक्त कब से बना? जिसने अपने पिता को क़ैद किया, अपने नाना को भी नहीं छोड़ा। जिसकी आग मे नाना और उसका सारा का सारा परिवार जल कर भस्म हो गया, जिसने अपने सहोदर भाइयों के साथ अन्याय और अत्याचार किये, उसके जीवन में दूसरों के सम्बन्ध में क्या भावना होगी? जिसने अपने परिवार की ऐसी दुर्दशा की हो, वह भगवान् के पास आकर भी क्या पाएगा? जिसने अपनी इच्छाओं को अप्रतिहत गति से भागने दिया और जो उनका गुलाम बन कर रहा, जिसने इच्छाओ पर नियन्त्रण नहीं किया, इच्छाओं का परिमाण भी नहीं बांधा और जो परिग्रह के ही चंगुल मे फँसा रहा, जो महारंभ और महापरिग्रह की भूमिका पर रहा, वह नरक नहीं पाएगा तो क्या पाएगा?

तो, सब से बड़ी बात यही है कि मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष पाने के लिए अपनी निरंकुश इच्छाओं पर अंकुश स्थापित करे, अपनी लालसा को जीते और सन्तोषशील होकर जीवन यापन करे।

फिर उसे अपने भविष्य के सम्बन्ध में किसी से पूछने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

जीवन का भगवान् तो अपने अन्दर ही है। एक सन्त ने कहा है—तू प्रभु को प्यार करना चाहता है तो सब से पहले यह देख कि तू प्रभु की सन्तान को प्यार करता है या नहीं? यदि प्रभु की सन्तान से प्यार नहीं किया तो प्रभु से क्या प्यार कर सकेगा? जो, प्रभु के पुत्रो के गले काटे और प्रभु के चरणों पर उनकी भेंट चढ़ावे, क्या वह प्रभु से प्यार करता है? और क्या वह प्रभु के प्रसाद को पाने की आशा करता है? जो इस महत्वपूर्ण प्रश्न को नहीं समझ लेगा, उसका जीवन कभी भी आदर्श जीवन नहीं बन सकता।

तो भगवान् महावीर ने कहा कि अपने कर्त्तव्यों को देखो कि तुमने क्या किया है, क्या कर रहे हो और क्या करना चाहिए? याद रक्खो, तुम्हारे दुष्कार्य तुम्हारे जीवन का नक़्शा नहीं बदल सकते हैं; सत्कार्य ही जीवन में परिवर्तन ला सकते हैं।

किसी ने कहा है—प्रभो! मैं न राज्य चाहता हूँ, न साम्राज्य चाहता हूँ और न संसार की प्रतिष्ठा और इज्ज़त चाहता हूँ। मैं सिर्फ़ यह चाहता हूँ कि नरक मे भी जाऊँ तो इतनी कृपा रहे कि मुझे तेरा नाम याद रहे!

जिसके हृदय में भक्ति का तूफ़ान आया है, वह इतना अल्हड़ हो जाता है कि अगर कोई उससे कह दे कि तू नरक में जायेगा, तो उससे यही उत्तर मिलता है हज़ार बार नरक में जाऊँ, पर

यह बता दो कि परमात्मा की भक्ति और प्रेम तो मेरे हृदय से नहीं निकल जाएगा? हृदय में परमात्मा के प्रति अखण्ड प्रीति की ज्योति जग रही हो तो मैं नरक के घोर अन्धकार को भी प्रकाशमय कर दूँगा। चित्त मे भगवद्भक्ति भरी है तो फिर दुनियाँ के किसी कौने में जाने में कोई भय नहीं है।

किन्तु कोणिक की भक्ति वास्तविक भक्ति नहीं थी। वह तो स्वर्ग का सौदा करने के लिए प्रकट हुई थी और जनता की घृणा को प्रशंसा के रूप मे परिणत करने के लिए पैदा हुई थी। उससे स्वर्ग कहाँ मिलने वाला था?

अभिप्राय यह है कि परिग्रह की लालसा मनुष्य को ले डूबती है। जहां परिग्रह की वृत्तियाँ जागती हैं, मनुष्य का जीवन अन्धकारमय बन जाता है। मनुष्य समझता है कि वैभव और सम्पत्ति को अपने कब्जे में कर रहा हूँ। मगर वास्तव मे धन-सम्पत्ति और वैभव ही उसकी जिन्दगी को अपने कब्जे में कर लेता है। फिर वह न अपना खुद का रह जाता है, न कुटुम्ब-परिवार का रह जाता है और न दूसरों का ही रह जाता है! न उससे अपना कल्याण होता है और न दूसरों का ही कल्याण हो सकता है। वह सब तरह से और सब तरफ से गया-बीता बन जाता है। न वह दूसरों को चाहता है और न दूसरे ही उसे चाहते हैं। वह चारों ओर से घृणा का ही पात्र बनता है।

देखते हैं कि परिग्रह की गहरी कीचड़ में फँसा हुआ मनुष्य न खाता है, न पीता है और दरिद्र के रूप में रहता है। वह

बही-खाते देखता रहता है, और इस साल में इतना जमा हो गया और बैंक में इतनी राशि मेरे नाम पर चढ़ चुकी है, यही देख-देख कर ख़ुश होता रहता है। उसकी इच्छा दूनी-दूनी बढ़ती जाती है। न परिवार को उससे कुछ मिल रहा है और न राष्ट्र और समाज को ही कुछ मिल रहा है! देश भूखा मरता है तो मरे, परिवार के लोग अन्न-वस्त्र के लिए मुँहताज हैं तो रहें, उनसे क्या वास्ता? उसकी तो पूँजी बढ़ती चली जाय, बस इसी में उसे आनन्द है!

ऐसे मनुष्य को एक सन्त ने अड़वा (बिजूका) कहा है। फ़सल होती है तो पशु उसको खाने को आते हैं। किसान खेत के बीच में एक अड़वा खड़ा कर देता है। उसके सम्बन्ध में कहा गया है—

जैसे अड़वा खेत का, खाय न खावा देय।

लकड़ियों का ढाँचा खड़ा करके दुनियाँ के गन्दे से गन्दे कपड़े उसे पहनाये जाते हैं और सिर की जगह काली हांडी रख दी जाती है! वही नराकार अड़वा कहलाता है।

फ़सल खड़ी है, पर अड़वा न खुद ही खाता है और न दूसरों को ही खाने देता है। वह केवल आदमी की शक़्ल है, आदमी नहीं है। इसी प्रकार जो अपनी सम्पत्ति का न स्वयं उपभोग करता है, न दूसरों को उपभोग करने देता है, जिसकी सम्पत्ति न खुद के काम आती है, न दूसरों के काम आती है, वह भी क्या आदमी है? वह शक़्ल से इन्सान है, परन्तु इन्सान का दिल

उसके पास नहीं है। उसकी इन्सानियत विदा हो गई है, वह जड़ के रूप में खड़ा है।

इन्सानियत की बुद्धि जागेगी तो जड़ की इच्छा कम हो जाएगी और जीवन में जितनी ज्यादा लूटखसोट होगी, इन्सानियत की आत्मा उतनी ही अधिक मलीन होती जाएगी। उस की इन्सानियत का दीपक बुझता जाएगा। ऐसा आदमी खुद भी भटकेगा और दूसरों को भी भटकाएगा। परिग्रह की बुद्धि उसकी समग्र जिन्दगी को बर्बाद कर देगी।

आशय यह है कि मनुष्य परिग्रह के चक्कर में पड़ कर अपने जीवन को नष्ट न करे, अपनी इच्छाओं को ही अपने जीवन की आवश्यकता समझ कर उनके पीछे-पीछे न भटके, यही 'इच्छापरिमाण' या 'परिग्रह परिमाण व्रत, का उद्देश्य है और जो इस व्रत को अंगीकार करता है, वह आनन्द की भाँति आनन्द का भागी होता है।

ब्यावर
१६-११-५०

तृष्णा की आग

उपासक आनन्द ने परिग्रहपरिमाण व्रत को अंगीकार किया। परिग्रहपरिमाण व्रत को अंगीकार करने का अर्थ है—जो जीवन अमर्यादित है, जिसमें इच्छाओं का कहीं अन्त नहीं है, जो कुछ भी मिल सके उसे लेना ही जिस जीवन का उद्देश्य है, उस जीवन को समेट लेना, मर्यादा के भीतर ले लेना और इच्छाओं के प्रसार को रोकने के लिए एक दीवार खड़ी कर लेना।

आम तौर पर मनुष्य अपने जीवन को अपनी इच्छाओं के वशीभूत करके उसे बेहद लम्बा बना लेता है। वह अपनी इच्छाओं के पीछे-पीछे दौड़ता है—उनकी तृप्ति के लिए, परन्तु इच्छाएँ परछाईं की तरह आगे-आगे बढ़ती हैं, दिन दूनी और रात चौगुनी! एक इच्छा तृप्त हुई नहीं कि दस नवीन इच्छाएँ

पैदा हो गई'।

बस, इसी मनोवृत्ति के मूल में समस्त संघर्ष निहित है। आज समाज मे, परिवार में और राष्ट्र मे जो हाहाकार चारों ओर सुनाई पड़ता है, वास्तव में, उसकी जननी यह लोभ की वृत्ति ही है। जब तक लोभ की वृत्ति को दूर नही किया जायगा, वासना पर अंकुश नहीं रक्खा जायगा, इच्छाओं को कुचलने की शक्ति नहीं उत्पन्न होगी और इस रूप मे परिग्रहपरिमाण व्रत का आचरण नहीं किया जायगा, तब तक आज के संघर्षों के मिटने की कल्पना करना निरा सपना देखना ही है। संघर्षों के मूल को पहचाने बिना संघर्षों को दूर करने की कल्पना, कल्पना ही रह जाएगी।

ऊँचे से ऊँचे विचारकों ने ज्ञान की रोशनी दी, मगर लोभ का अन्धकार दूर नहीं हो सका और आज का संसार उसी अन्धकार में भटक रहा है। कहने को तो मनुष्य ने विद्युत् शक्ति पर भी अधिकार जमा लिया और उसके प्रकाश से दुनिया जगमगा उठी, परन्तु इस बाहरी प्रकाश ने मनुष्य के अन्तरतम् मे गहरा अन्धकार भर दिया। मनुष्य बाहरी प्रकाश की चमक में ही भूल गया—और उसने अन्दर के तम को दूर करने के प्रयत्न को ही छोड़ दिया।

महापुरुषों की दिव्य वाणी का जो अलौकिक प्रकाश उसे मिला वह उसे अमल में न लाकर उसे तो उसने सुनने तक ही महदूद रक्खा।

बड़े-बड़े सम्राटों और राजाओं ने भी शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे सफल न हो सके। शान्ति स्थापित करने के लिए ही हवाई जहाज बने, राकेट बने और एटम बम भी; मगर यह सब भी दुनियाँ में शान्ति की स्थापना न कर सके।

जब यूरोप में बारूद का आविष्कार हुआ तो लोगों ने समझा कि अब युद्ध नहीं होगा। जब टैंकों और हवाई यानों का आविष्कार हुआ तब भी यही आशा प्रकट की गई। उसके बाद प्रत्येक संहारक आविष्कार के साथ यही सम्भावना पैदा हुई और संसार के राजनीतिज्ञों ने यही आश्वासन दिया। मगर लोगों ने देखा कि युद्ध बन्द तो हुआ नहीं, उसने और भी प्रचण्ड रूप धारण कर लिया। पहले जो युद्ध होते थे, सैनिकों तक ही सीमित रहते थे। पर आज सैनिक और असैनिक का भी भेद नहीं रह गया। पहले के अस्त्र-शस्त्रों में सीमित संहारक शक्ति थी, आज वह असीम-सी होती जा रही है। एक छोटा-सा बम गिरा और अनेकों के प्राण चले गये। फिर भी युद्ध का अन्त कहाँ नजर आ रहा है। संसार का संहार करने के नये-नये प्रयत्न किये जा रहे हैं। कहीं-कहीं युद्ध भी चल रहे हैं और विश्व युद्ध की काली घटाएँ मंडरा रही हैं। एक युद्ध समाप्त भी नहीं हो पाता और दूसरे की तैयारियाँ होने लगती हैं।

हालत यह है कि मनुष्य बारूद के ढेर पर बैठा है और पलीता पास में रख छोड़ा है। कहता है—मैं बारूद में पलीता लगा दूंगा तो शान्ति हो जायगी। किन्तु क्या यह शान्ति प्राप्त करने

का तरीक़ा है ? पर दुनिया की आज यही स्थिति बन गई है।

ख़ून भरा कपड़ा ख़ून से साफ नहीं हो सकता। यह नई बात नहीं है, हज़ारों वर्ष पहले कही हुई बात है। कपड़े को धोने के लिए पानी आवश्यक है, ख़ून आवश्यक नहीं। परन्तु मनुष्य सुनता नहीं है और अभी तक रक्त के कपड़े को रक्त से ही धोने का प्रयत्न कर रहा है। इसलिए शक्ति दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। जो देश धनी हैं वे भी अशान्त हैं और जो निर्धन हैं वे भी अशान्त हैं। लूटमार मच रही है। सर्वत्र परेशानी और बेचैनी है।

आज की लड़ाइयों का मूल परिग्रह ही है। परिग्रह के लिए ही यह लड़ाइयां लड़ी जा रही हैं। किसी समय मान-प्रतिष्ठा के लिए अथवा विवाह शादियों के लिए लड़ाइयाँ होती थीं। किन्तु आज की लड़ाइयों का उद्देश्य यह नहीं है। बहुत बड़ी प्रतिष्ठा पाने के लिए अथवा चक्रवर्ती बनने के लिए आज युद्ध नहीं होते हैं। इन युद्धों का उद्देश्य मंडियाँ तैयार करना है, जिससे कि विजेता राष्ट्र विजित राष्ट्र को माल देता रहे और लूटता रहे।

इस प्रकार व्यापार के लिए ही युद्ध प्रारम्भ किये जाते हैं और लड़े जाते है और व्यापार के लिए ही समाप्त भी किये जाते हैं। गहरा विचार करने पर यही एक-मात्र आज के युद्धों का उद्देश्य समझ मे आता है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आज विश्व मे जो भी

अशान्ति है, उसका प्रधान कारण परिग्रह है। परिग्रह के मोह ने एक राष्ट्र को, दूसरे राष्ट्र को चूसने और पददलित करने के लिए ही प्रेरित नहीं किया है, वरन् एक ही राष्ट्र के अन्दर भी वर्ग-युद्धों की आग सुलगाई है। पूंजीपतियों और मज़दूरों के बीच जो संघर्ष चल रहा है और जो दिनो-दिन भयानक बनता जा रहा है और जिसके विस्फोटक परिणाम बहुत दूर नहीं है, उसका कारण क्या है ? परिग्रह के प्रति जो अति लालसा है और जिस अतिलालसा के कारण, एक वर्ग दूसरे वर्ग की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके अपनी ही तिजोरियाँ भरने की कोशिश करता है उसी ने वर्ग-संघर्ष को जन्म दिया है।

अभिप्राय यह है कि जब तक परिग्रह की वृत्ति अन्दर में कम नहीं हो जाती, तब तक संसार की अशान्ति कदापि दूर नहीं हो सकती। जब तक प्रत्येक राष्ट्र परिग्रह-परिमाण की नीति को नहीं अपनाएगा, ख़ून की होली खेलता ही रहेगा।

भगवान् महावीर ने और दूसरे महापुरुषों ने किसी समय सच ही कहा था कि परिग्रह ही अशान्ति का मूल है और अपरिग्रह ही शान्ति का मूल है। कहा है—

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो॥

—दशवैकालिक, ८

क्रोध आता है तो प्रेम का नाश करता है। वह प्रीति नहीं रहने देता उसकी हत्या कर देता है। अभिमान के जागने पर

विनम्रता और शिष्टता चली जाती है। गुणीजनों के प्रति आदर-भाव समाप्त हो जाता है और मनुष्य ठूंठ की तरह खड़ा रहता है। अभिमान आने पर, पत्थर का टुकड़ा चाहे झुके, पर मनुष्य नहीं झुकता है। मायाचार या छल-कपट मित्रता को नष्ट कर देता है। दो मित्र परिवार हैं। जब तक उनमे सरलता का भाव रहता है, वे एक दूसरे के हृदय को जानते रहते है। उनका जीवन खुली हुई पुस्तक के समान रहता है। वहाँ निष्कपट मित्रता गहरी होती जाती है और जीवन का उल्लास और आनन्द बना रहता है; किन्तु जब उनमें छल-कपट पैदा हो जाता है तो मित्रता के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। आप चाहें कि एक दूसरे को धोखा भी दें और मित्रता भी बनाये रक्खें, तो यह नहीं हो सकता। कोई एक फ़ैसला करना होगा—या तो सरल-भाव क़ायम रख लो या छल-कपट ही कर लो! जहाँ छल-कपट रहेगा, वहाँ मित्रता क़ायम नहीं रह सकती।

और जब लोभ की बारी आई तो भगवान् कहते हैं—लोभ सब का नाश कर डालता है। अन्य अवगुण तो एक-एक गुण का नाश करते है; किन्तु लोभ सभी गुणो का नाश करता है। लोभ के जागृत होने पर न प्रेम रहता है, न विनय या शिष्टता ही रहती है। लोभी एक-एक कौड़ी के लिए दूसरो का तिरस्कार करने लगता है! लोभ से मित्रता का भी नाश हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य की आसक्ति ही मनुष्यता के टुकड़े-टुकड़े कर देती है और जीवन की अच्छाइयों की हत्या कर डालती है। लोभ की मौजूदगी

में, जीवन में जो विराट भावना आनी चाहिए, नहीं आ पाती है।

मनुष्य जितना क्षुद्र होता जाता है, विनाश की ओर जाता है, और जितना विशाल बनता जाता है, उतना ही कल्याण की ओर बढ़ता जाता है।

तो लोभ की यह भूमिका है। लोभ से मनुष्य कभी शान्ति का अनुभव नहीं कर पाता। मनुष्य आज तक क्या करता आया है? वह लोभ को शान्त करने के लिए लोभ करता रहा है। इसका अर्थ यही तो है कि ख़ून के कपड़े को ख़ून से ही साफ़ करने का प्रयत्न करता आया है। परन्तु यह कैसे हो सकता है?

आग जल रही है और उसके ऊपर दूध गरम करने के लिए रख छोड़ा है। जब दूध गरम होता है तो उसमें उफान आता है और वह नीचे गिरने लगता है। नीचे गिरने लगता है तो पानी के ठंडे छींटे दिए जाते हैं और वह शान्त हो जाता है। थोड़ी देर में फिर दूध उफनने लगता है तो फिर छींटे दिए जाते हैं; मगर इस प्रकार ठंडे छींटे दे-देकर दूध को कब तक शान्त रक्खा जायगा? नीचे आग जल रही है तो दूध को उफनना ही है। उसे शान्त नहीं किया जा सकता। दूध को शान्त करने का तरीक़ा आग को शान्त कर देना ही है।

इस पर पंजाब के एक भाई की कहानी मुझे याद आ रही है कुछ ऊँट वाले थे और नित्य की भाँति उस दिन भी वे ऊँटों पर माल लाद कर चले। सन्ध्या हुई और अंधकार होने लगा तो उन्होंने एक मैदान में पड़ाव डाला। ऊँटों पर से बोरियाँ उतार

दी गईं। उनमें से एक आदमी ने सोचा–रात का समय है और अन्धेरा है। नींद आ गई और कोई बोरियाँ उठा ले गया तो मुश्किल हो जायगी। यह सोचकर उसने बोरियो मे रस्सा बाँध कर उसे अपने पैरों से बाँध लिया और सो गया।

आधी रात के क़रीब चोर आये और संयोगवश उसी की बोरियों पर उन्होने हाथ डाला। वे बोरी सरकाने लगे तो वह जाग गया और बड़बड़ाने लगा—अरे कौन है? उसके साथियों ने सोचा—सोते में, छाती पर हाथ पड़ गया है और इसी कारण बड़बड़ा रहा है। अतएव उन्होंने आँखें मींचे-मीचे कहा-राम राम कर। तब वह बोला—घसोट मिटे तो राम-राम करूँ, घसीट न मिटे तो राम-राम कैसे हो?

यही बात दूध के उफान के सम्बन्ध मे है। नीचे जलती हुई आग शान्त हो तो उफान शान्त हो। आग शान्त नहीं होती तो उफान कैसे शान्त हो सकता है?

और यही बात लोभ के विषय में भी है। मनुष्य आज क्या कर रहा है? उसके भीतर लोभ की आग जल रही है और उसकी तृष्णा उफन-उफन कर ऊपर आती है। जो त्याग और वैराग्य की बातों के छींटे दे-दे कर उसे शान्त करना चाहता है, वह थोड़ी देर के लिए ही उसे भले शान्त कर ले, मगर जब तक लोभ की आग को ठन्डा नहीं करता, स्थायी शान्ति कैसे हो सकती है? इच्छाओं की पूर्ति भी शान्ति, स्थायी शान्ति नहीं ला सकती—क्योंकि इच्छाओं का कभी अन्त नहीं होता।

भगवान् महावीर ने एक बहुत सुन्दर बात, इस विषय में कही है। संसार में जो धन है, वह परिमित है, अनन्त नहीं है और मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं। ऐसी स्थिति में परिमित धन से अपरिमित आकांक्षाएँ किस प्रकार तृप्त की जा सकती हैं। जिनमें करोड़ों मन पानी समा सकता हो, उस तालाब में दो-चार चुल्लू पानी डालने से क्या वह भर जाएगा ? भगवान् ने कहा है—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ ।
दो मासकयं कज्जं, कोडिए वि-न निट्ठियं ॥

—उत्तराध्ययन

यह एक महान् सूत्र है। इसमें जीवन का असली निचोड़ हमारे सामने आ गया है। इस सूत्र ने जीवन की सफलताओं की कुञ्जी हमारे हाथ में सौंप दी है।

ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता है; और ज्यों-ज्यों लोभ बढ़ता है, त्यों-त्यों लाभ को बढ़ाने की कोशिश बढ़ती है ! इस तरह लाभ और लोभ में दौड़ लग रही है। इस स्थिति में शान्ति कहाँ ? विश्रान्ति कहाँ ?

कपिल महर्षि का उदाहरण हमारे सामने है। वह जितनी ग़रीबी में थे, उसमें दो माशा सोना ही उनके लिए बहुत था। उस पर ही उनकी आशा लगी थी। चाहते थे कि दो माशा सोना मिल जाय तो बहुत अच्छा हो। कपिल उसे पाने के लिए कई बार गये, मगर उसे न पा सके।

बात यह थी कि एक राजा ने दान का एक प्रकार से नाटक खेल

रक्खा था। उसने नियम बना लिया था कि प्रातःकाल सब से पहले, जो ब्राह्मण उसके पास पहुँचेगा, उसे वह दो माशा सोना भेंट करेगा। उस दो माशे सोने के लिये न मालूम कितने लोगों का कितना समय नष्ट होता था। उस दो माशे सोने को प्राप्त करने के लिए इतने मनुष्यों की लालसा जाग उठी थी कि दरबार में एक अच्छी खासी भीड़ लग जाती थी। परन्तु जिसका नाम पहले नम्बर पर लिखा जाता वही भाग्यवान् उस सोने को पाता था। शेष सब हताश होकर लौटते थे।

यह दान था या दान का नाटक था, इस मीमांसा में हमें नहीं जाना है। इतना अवश्य कहना है कि इस प्रकार का दान जनता के मन में आग सुलगा देता है और उसकी प्राप्ति के लिए एक दौड़ लग जाती है।

कपिल जब भी गये, खाली हाथ ही लौटे। मगर लोक में प्रसिद्ध है कि आशा अजर-अमर है। कपिल ने महीनों तक दौड़-धूप की, इसलिए कि किसी प्रकार दो माशा सोना मिल जाय!

एक दिन तो उसकी स्त्री ने झिड़क कर कह दिया—तुम बड़े आलसी हो। समय पर उठते नहीं, समय पर पहुँचते नहीं, फिर सोना कहाँ से मिले?

कपिल ने किंचित् सहम कर कहा—बात तो ठीक है। अच्छा, आज तुम मुझे जल्दी जगा देना।

इतना कह कर और जल्दी से जल्दी जागने का संकल्प करके वह लेट गया। वह लेट तो गया, मगर नींद उसे नहीं आई।

रात्रि के बारह बजे वह उठ बैठा और सीधा राजमहल की ओर चल दिया। वह इधर-उधर भटकने लगा। सिपाहियों ने देखा, आधी रात में भटकने वाला कोई भला आदमी नहीं हो सकता, जरूर कोई गुन्डा होगा और उसे पकड़ लिया।

कपिल ने बहुत कहा—मैं चोर नहीं हूँ, गुंडा नहीं हूँ। मैं तो दो माशा सोना लेने आया हूँ। पर किसी ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया।

'क्या यह सोना लेने का समय है ?' कह कर सिपाहियों ने उसे कोठरी में बन्द कर दिया।

प्रातःकाल कपिल को दरबार में हाज़िर किया गया। उसके वस्त्रों के तार-तार हो रहे थे, भूख के मारे आँखें अन्दर को धँसी जा रही थीं और वह हड्डियों का ढाँचा नज़र आ रहा था।

राजा की निगाह कपिल पर पड़ी और वह फ़ौरन ताड़ गया, यह ग़रीब ब्राह्मण है और सचमुच सोना लेने की फ़िराक में निकला होगा !

फिर राजा ने कपिल से पूछा—रात में क्यों भटक रहे थे ?

कपिल—अन्नदाता, कई महीने हो गये भटकते-भटकते, पर सोना हाथ न आया। और आज जब सोना लेने के लिए जल्दी आया तो इन सिपाहियों के हाथ में पड़ गया। इन्होंने मार-मार कर मेरी बड़ी दुर्गति की है।

और यह कहते-कहते कपिल के नेत्र भर आये और वह रो पड़ा।

राजा द्रवित हो उठा। उसने सहानुभूति भरे स्वर में कहा—

दो माशा सोने की क्या बात है ! जो तुम माँगोगे, वही दूँगा। बोलो, क्या चाहते हो ?

कपिल सोच-विचार में पड़ गया। क्या माँगूँ ? दो माशा सोना मिल भी गया तो उससे क्या होगा ? सेर दो सेर सोना क्यों न माँग लूँ ! पर वह भी खत्म हो जायगा। दस-बीस सेर सोना माँग लूँ तो ब्राह्मणी के भरपूर जेवर बन जाएँगे और चैन से जीवन गुज़रेगा। पर उस टूटी झोंपड़ी मे सोने के जेवर क्या शोभा देंगे ! तो फिर एक महल भी क्यों न मांग लूँ। किन्तु जागीर के बिना महल की क्या शोभा ? तो फिर एक गाँव भी माँग लेने में क्या हर्ज है ? लेकिन एक गाँव काफी होगा ? नही, एक गाँव से भी क्या होगा। जब माँगने ही चले तो एक प्रान्त मांग लेना ही ठीक है।

और इस रूप मे कपिल की इच्छाएँ आगे बढ़ीं 'जहां लाहो तहा-लोहो' की उक्ति चरितार्थ होने लगी। आखिर एक प्रान्त भी जब कपिल को छोटा लगा तो उन्होने राजा का सारा राज्य ही मांग लेने का इरादा कर लिया ! हाय लोभ ! धिक तृष्णा !

मगर कुछ ही देर के बाद उसका ज्ञान जाग उठा। सम्पूर्ण राज्य मांगने का इरादा करते ही उसकी चेतना मे प्रकाश का उदय हुआ।

कपिल सोचने लगा—किसी भले आदमी ने देने को कह दिया है तो क्या उसका सर्वस्व हड़प लेना उचित है ? किसी ने उँगली पकड़ने को कह दिया तो क्या उसका हाथ ही उखाड़ लेना

चाहिए ?

और कपिल विचारों की गहराई में उतर गया। देर होने के कारण राजा सशंकित हो उठा। उसने सोचा—यह गहरे विचार मे पड़ गया है, कहीं राजगद्दी न माँग बैठे। अतएव राजा ने फ़ौरन कहा—जो माँगना हो, जल्दी माँग लो।

ज्यों ही कपिल ने आखें खोलीं, राजा की आँखों में घबराहट दिखाई दी। कपिल समझ गया—मेरी तृष्णा से राजा भयभीत हो रहा है। अगर मैंने अपनी तृष्णा व्यक्त कर दी तो राजा के प्राण-पखेरू उड़ जाएँगे।

और कपिल की विचारधारा पलट कर एकदम विरुद्ध दिशा में चली गई। उसने सोचा—

जहा लाहो तहा लोहो।

लोभ नहीं था, वह आ गया और बढ़ गया। और बढ़ता ही जा रहा है। मुझे दो माशे सोने से मतलब था। मगर राजा ने अगर 'जो कुछ इच्छा हो मांग लो' कह दिया तो, इच्छा बलवती हो उठी और वह राजा का सारा राज्य ही लेने को तैयार हो गई। धिक्कार है ऐसी इच्छा को और धिक्कार है ऐसे मन को, जिसमें विराम नहीं है, शान्ति नहीं है। यह इच्छा वह अग्नि है, जिसे शान्त करने के लिए ज्यों-ज्यों ईंधन डाला जाता है, त्यों-त्यों वह बढ़ती ही चली जाती है। ईंधन डालने से आग बुझ नहीं सकती। उसे शान्त करने की विधि ईंधन न डालना ही है।

इस प्रकार लोभवृत्ति को समूल नष्ट करने की विचारधारा आई तो वह महान् पुरुष अपरिग्रह के मार्ग की ओर चला और महर्षि कपिल के रूप मे उसे आज सारा संसार जानता है।

एक दिन महर्षि कपिल ने पांच सौ चोरो को देखा। उनके हाथ खून से भर रहे थे। उदारता शब्द को उन्होने कभी सुना भी न था। उस महर्षि की वाणी के प्रकाश में वह पांच सौ चोर भी उनके शिष्य बन गये। और एक दिन उन्ही महान् मुनियों की वह टोली संसार को शान्ति का सन्देश देने लगी।

चीन देश के एक राजा की बात है। सन्त कन्फ्यूसियस थे। उनके पास एक राजा आया। उसने निवेदन किया—देश मे चोरी बहुत हो रही है। मैं उसे रोकने के लिए बहुत कुछ कर चुका हूँ, किन्तु वह बन्द नहीं हो रही है। कृपा करके ऐसा कोई उपाय बतलाइये कि वह बन्द हो जाय।

सन्त कन्फ्यूसियस ने कहा—वास्तव में चोरी बन्द करना चाहते हो तो तुम स्वयं चोरी करना बन्द कर दो। अपने लालच को अधिक मत बढ़ने दो। लालच के कारण ही तुम अपनी प्रजा को चूस-चूस कर अपना खजाना भर रहे हो। किन्तु जिस दिन तुम अपने इस लालच को त्याग दोगे और जिस दिन तुम्हारे मन में से झूँठ, चोरी और छीना-झपटी की भावनाएँ शान्त हो जाएँगी, उसी दिन यह चोरियाँ भी बन्द हो जाएँगी।

तो मैं सोचता हूँ कि हमारी बुराइयों की जड़ हमारे अन्दर ही है। जब तक हम उनसे संघर्ष नहीं करते और मन मे फैले

हुए लोभ-लालच के जहर को दूर नहीं कर देते, किसी भी प्रकार शन्ति नहीं पा सकते। संसार में धन सीमित है और इच्छाएँ असीम है। भगवान् महावीर ने फरमाया है—

सुवरण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलास-समा असंखया।
नरस्स दुस्स न तेहिं किंचि,
इच्छा हु आ गाससमा अणंतया॥

उत्तराध्ययन

कल्पना कीजिए—एक लोभी आदमी किसी देवता को मनौती करे और वह देवता उस पर प्रसन्न हो जाय। यथेष्ट वर मांगने का अधिकार उसे दे-दे तो वह कहे—मुझे धन चाहिए। और देवता उसके लिए पृथ्वी पर सोने चाँदी के पहाड़ खड़े कर दे। कैलाश और सुमेरु के समान ऊँचे और खूब लम्बे-चौड़े और फिर एक दो नहीं, असंख्य पहाड़, कोई उन्हे गिनना चाहे तो ज़िन्दगी पूरी हो जाय, पर उन पहाड़ों की गिनती पूरी न हो।

इतने पहाड़ खड़े कर देने के बाद उससे पूछा जाय कि अ तो तेरा मन भर गया ? अब तो तुझे शान्ति है ?

तो, इस प्रश्न के उत्तर मे वह लोभी आदमी क्या कहेगा, क्या आप जानते हैं ? वह कहेगा—

एक पहाड़ इस कोने में और खड़ा करदो तो अच्छा हो। तो इस प्रकार के लोभी और इच्छाओ के पीछे बे-लगाम दौड़ने वाले के लिए वे चांदी-सोने के पहाड़ भी कुछ नहीं हैं। इतना

अपरिमित धन भी उसके लिए नगण्य है। उसकी इच्छाएँ और भी वढ़ती जाएंगी, क्योकि इच्छाएँ अनन्त हैं। तो अनन्त इच्छाओ का गड्ढा सीमित धन से कैसे भरा जा सकता है ?

एक सन्त किसी प्रयोजन से इधर-उधर गये। उन्होने एक लोभी आदमी को देखा। उसे देखकर लौटे तो अपने चेले से कहा—

देखा रे चेला विना पाल सरवर !

अर्थात्—आज मै एक ऐसे तालाब को देखकर आया हूँ, जिसका तट और किनारा ही नहीं है।

तव शिष्य ने झट से कहा—

इच्छा गुरूजी विन पाल सरवर।

अर्थात्—गुरुजी। आप ठीक ही देखकर आये हैं। यह कोई असम्भव बात नही है।

गुरूजी ने पूछा—असम्भव कैसे नहीं है? तालाब है तो किनारा भी होना चाहिए। बिना किनारे का तालाव कैसा !

चेला वोला—गुरूजी, और तालावो के किनारे होते हैं, पर इच्छा का तालाब वह तालाव है, जिसका कहीं ओर-छोर नहीं, किनारा नहीं।

गुरू ने सन्तोष के साथ कहा—तुम ठीक बात पर पहुँच गये हो। तुमने वस्तुस्थिति प्राप्त कर ली है।

तो मनुष्य का मन विश्व की समस्त सम्पत्ति पाने पर भी शान्त होने वाला नहीं है। इस सत्य का जीवन में हम किसी भी

समय अनुभव कर सकते हैं। संसार में एक तरफ वे साधन हैं, जिनके लिए इच्छा पैदा होती है और मनुष्य उस इच्छा की पूर्ति के लिए उन साधनों को ग्रहण कर लेता है। मगर उनसे इच्छा की पूर्ति नहीं होती, बल्कि और नवीन इच्छा उत्पन्न हो जाती है। नवीन इच्छाएं उत्पन्न होती हैं तो वह फिर नवीन साधनों को 'ग्रहण करता है, लेकिन फिर वही हाल होता है। फिर कोई नई इच्छा उत्पन्न होती है। तो, इच्छाओं की पूर्ति करते जाना, इच्छाओं की आग को शान्त करना नही है—इस तरीके से आग बुझती नहीं, बढ़ती ही जाती है। अतएव इच्छापूर्ति का मार्ग कोई कारगर मार्ग नहीं है। यह धर्म का मार्ग नहीं है। यह तो संसार का मार्ग है और इससे शान्ति नहीं मिल सकती।

इस विषय में जैनधर्म का मार्ग यह है कि इच्छा की शान्ति धन से नहीं होगी। वस्तु प्राप्त करने से इच्छा शान्ति नही होगी। इच्छा की आग जब भड़कने लगे तो सन्तोष का जल उस पर छिड़किये, वह आग निश्चय ही शान्त हो जायेगी। आपके मन का दौड़ना रुक जायगा तो, आपकी इच्छाएँ भी सिमट कर उसके किसी कोने मे समा जायेंगी।

तो, यह दृष्टि लेकर अगर जीवन में चलेंगे तो अपरिग्रह का व्रत आपके ध्यान में आ जायेगा। वास्तव मे अपरिग्रह का अर्थ भी यही है। मान लो, कोई सम्राट है या सम्पत्ति-शाली है और वह अपने आपमें ऐच्छिक गरीबी धारण करता है, आगे के सभी साधन एवं सम्पत्ति-सम्पन्न होते हुए भी अपनी इच्छाओं

पर अंकुश लगाता है, और स्वयं मे ग़रीबी के भाव पनपाता है तो, इसका अर्थ है कि वह अपरिग्रह के व्रत को भली प्रकार से समझता है। जो ग़रीबी स्वेच्छा से स्वीकार नहीं की गई है और क़ुदरत की तरफ से लादी गई है, वह शान्ति नहीं दे सकती। वही ग़रीबी, जो अपनी इच्छा से—अपने आप से धारण की गई है, अपरिग्रह को जन्म देती है।

स्वयं भगवान् महावीर की ओर देखिए। वे राजकुमार अवस्था में हैं और संसार के श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सभी वैभव उनको प्राप्त है। उन्होंने प्रतिष्ठित राजकुल में जन्म लिया है और अपनी आयु के तीस वर्ष उसी मे गुज़ारे है। फिर भी उन्हे शान्ति नहीं मिली। शान्ति मिल जाती तो वे घर क्यों छोड़ते ? यह प्रश्न हमारे सामने है। हमने इस प्रश्न को नहीं समझा तो भगवान् महावीर के घर छोड़ने के उद्देश्य को नहीं समझा। और इसके विपरीत जिन्होंने यह समझा है कि शून्य भाव से भगवान् ने घर छोड़ दिया, उन्होंने भगवान् महावीर को नहीं पहचाना।

तो, इस संसार मे एक तरफ धन-वैभव की आग इकट्ठी हो रही है और दूसरी तरफ़ गहरे गड्ढे पड़े हुए हैं। एक तरफ लोग खा-खा कर मर रहे है और दूसरी तरफ़ खाने के अभाव मे मर रहे हैं। एक तरफ इतने कपड़े शरीर पर लदे हुए हैं कि उनके बोझ से दबे जा रहे है और दूसरी तरफ पहनने को धागा भी नहीं है। एक तरफ रहने के लिए सोने के महल बने हैं और दूसरी तरफ झोंपड़ी भी नहीं है। इस प्रकार जो धनी हैं, वे भी

मर रहे हैं और जो ग़रीब हैं, वे भी मर रहे हैं।

तुम्हारे पास आवश्यकता से अधिक धन है, वैभव है और तुम चोरी नहीं करते हो तो इतने-मात्र से समस्या हल होने वाली नहीं है। तुम सोने के महलों में बैठकर अगर संसार को त्याग और वैराग्य का उपदेश देते हो तो यह तो एक प्रकार का खिलवाड़ है। जिसके सामने छप्पन भोजन खाने को रक्खे हैं और मनुहार हो रही है, वह दूसरों को उपवास करने का उपदेश दे—जिन्हे तीन दिन से अन्न का दाना नहीं मिला है, उन्हे वह उपवास का महत्त्व बतलाये, तो वह उपदेश नहीं है, मज़ाक है। इस प्रकार जनता के मन में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। जनता के मन में शान्ति तभी आएगी, जब उपदेश देने वाला जनता के उस रूप को स्वीकार कर लेगा और जनता की भूमिका में आकर सामने मैदान में खड़ा हो जायगा। तभी जनता की भावना जागेगी और संसार उसके पद-चिन्हों पर चलेगा।

और यही भगवान् महावीर का दृष्टिकोण था। उन्होने अपनी इच्छा से राजमहलो का त्याग किया और फक़ीरी बाना धारण कर लिया। भिक्षु का जीवन अंगीकार कर लिया। वस्त्र के नाम पर उन्होने एक तार भी अपने पास नहीं रक्खा। और यही महान् और ऐच्छिक ग़रीबी है।

और बुद्ध ने भी यही किया। उनको भी वैभव में रहते हुए शान्ति नहीं मिली। जब वे भिक्षु के रूप में आगये तो शान्ति उनके हृदय में आ-बिराजी। जनता ने भी उनकी बात को ध्यान

पूर्वक सुना—और वह उनके पद चिन्हो पर भी चली।

मगर उपनिषद् काल के महान् उपदेशक राजा जनक का वैसा प्रभाव जनता पर न हो सका। उपनिषदों में जनक गूँज तो रहे हैं और उनकी वाणी भी बड़ी तेजस्वी मालूम होती है। उसमें त्याग और वैराग्य की ज्वालाएँ जलती हुई मालूम होती हैं, किन्तु वह ज्वालाएँ आती हैं और बुझ जाती हैं। ज्योति जगती है और बुझ जाती है। और इसका कारण यही है कि उन्होंने सिंहासन पर बैठ कर अद्वैतवाद और परम ब्रह्म की बातें की हैं—एक शक्तिशाली और वैभव सम्पन्न नरेश के रूप मे रहकर ही उन्होंने संसार को वैराग्य का उपदेश दिया है, जिससे जनता पर उनके विचारों का स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सका है।

इस प्रकार भगवान् महावीर से पहले भी वेदान्त की बातें कही गई—यह संसार क्षणभंगुर है, नश्वर है; मगर वेदान्त के इस सन्देश को देने वाले स्वयं में त्याग की भावना न जगा सके। वे राजा-महाराजाओं के दरबार में पहुंचे और बदले मे सोने से मढ़े सींगोंवाली हज़ार-हज़ार गायें लेकर इस महान् सन्देश को देकर चले आये। यही कारण है जो वे इस महान सन्देश की अमिट छाप जनता के हृदय में न लगा सके।

तो यह भी जीवन का कोई आदर्श है? त्याग और वैराग्य का उपदेश देने चलें और सोने से मढ़े सींगों वाली हज़ारो गायें ले आएँ। जनता के मानस पर उस उपदेश का असर हो ही कैसे था और हुआ भी नहीं। इसलिए वेदान्त के एक आचार्य

को भी कहना पड़ा:—

कलौ वेदान्तिनो भान्ति, फाल्गुने बालका इव।

इस कलिकाल में, संसार की वासनाओं में फँसे हुए लोगों के मुँह से वैराग्य-वृत्ति की बातें सुनते हैं तो फाल्गुन का महीना याद आ जाता है। फाल्गुन में, होली के समय बालक पागल से हो जाते हैं और कभी घोड़े पर और कभी गधे पर सवार होते हैं।

और उनके इस कथन का अभिप्राय यह है कि जो उपदेशक जनता से त्याग कराना चाहता है; किन्तु स्वयं त्याग नहीं करता, उसका उपदेश जनता के हृदय पर असर नहीं डाल सकता। उनके उपदेश को सुनकर जनता उस समय उनकी विद्वता की तो क़ायल हो जाती है, मगर स्थायी रूप से उसके मन पर उसका प्रभाव नहीं पड़ पाता—तो विद्वत्ता और चीज़ है और ज्ञान और चीज़ है। कोई विद्वान है और बाल की खाल निकाल रहा है तो वह अपने प्रबल तर्कों से दुनिया का मुँह बन्द कर सकता है, परन्तु जनता के हृदय को नहीं बदल सकता। जनता के हृदय को बदलने की कला तो ज्ञानी में ही होती है।

जो जिस चीज़ को स्वयं नहीं छोड़ सकता, वह दूसरों से उसे कैसे छुड़ा सकता है?

तो भगवान महावीर ने पहले स्वयं जनता के सामने अपना उदाहरण रक्खा। जो एक दिन महलों में रहते थे और प्रातःकाल होते ही जिनसे हज़ारों आदमी दान पाकर मुक्त कंठ से जिनकी

प्रशंसा करते थे, उन्होंने दीक्षा लेने का विचार किया। जब विचार किया तो दीक्षा लेने से पहले अपना सारा वैभव भी लुटा दिया और इस प्रकार हल्के होकर जनता के सामने मैदान में आये। राजकुमार से भिक्षुक बन कर जनता के बीच मे आये तो एक ही आवाज़ मे हज़ारों आदमी उनके पीछे चल पड़े।

मतलब यह है कि परिग्रहवृत्ति का त्याग करके ऐच्छिक ग़रीबी को धारण किए बिना ही यदि कोई संसार की समस्याओं को हल करना चाहता है, तो केवल निराशा ही उसके पल्ले पड़ सकती है।

मैं साधु और गृहस्थ दोनों के विषय में कह रहा हूँ। साधु यदि अपनी भूमिका में रहना चाहते हैं तो उन्हे पूर्ण रूप से अपरिग्रह का व्रत धारण करना ही होगा। फिर बाहर से ही अपरिग्रही होने से काम नहीं चलेगा, अन्तरतर में भी उसे अपरिग्रही बनना पड़ेगा। परिग्रह की वासना न रहने का लक्षण यह है कि उसकी निगाह मे राजा और रंक तथा धनवान् और निर्धन, एक रूप में दिखाई देने चाहिएँ। जो किसी भी सन्त के सामने नतमस्तक हो जाता है, धनवान् की ख़ुशामद करता है और हृदय में उनकी महत्ता का अनुभव करता है, समझना चाहिए कि उसके भीतर पूरी अपरिग्रह-वृत्ति का उदय नहीं हुआ है। धन की महत्ता को वह भूला नहीं है। वह 'समतृणमणि' का विरुद नहीं प्राप्त कर सका है। जिसका जीवन पूर्ण रूप से निस्पृह बन जाता है, वह धन, वैभव से कभी

प्रभावित नहीं होता और जो धन वैभव से प्रभावित नहीं होता वही जगत् को अपने उच्च आचार और पवित्र विचार से प्रभावित करता है।

साधु के अतिरिक्त दूसरे साधक गृहस्थ-समाज में से होते हैं। गृहस्थ पूरी तरह परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता तो उसे सीमा बनानी चाहिए। अपनी इच्छाओं के प्रभाव को कम करना चाहिए। खाना होगा तो इतना खाऊँगा, पहनना होगा तो इतना पहनूँगा, मकान रखना होगा तो इतने रक्खूँगा, और पशु रखने होंगे तो इतने रखूँगा, इस प्रकार अपने जीवन के चारों ओर दीवारें खड़ी कर लेने पर ही वह आगे बढ़ सकेगा।

एक राजा और एक मन्त्री था, और दोनों ही पुत्र-हीन ! जब राजा और मन्त्री अकेले बैठते तो घर-गृहस्थी की बातें चल पड़तीं। तब राजा कहता—देखो, हम दोनों ही के घरों में अँधेरा है।

आखिर, राजा और मन्त्री ने देवी-देवताओं की मनौती की। इधर-उधर दौड़धूप की, मगर कोई नतीजा न निकला।

जिस नगर में राजा रहता था, उस नगर में एक सन्त आये। सन्त बड़े ज्ञानी और विचारवान् थे। उनकी वाणी का असर जनता पर पड़ा और हज़ारों लोग उनके चरणों में झुकने लगे। राजा ने भी सुना कि उसके नगर में किसी पहुँचे हुए सन्त का आगमन हुआ है तो उसने मन्त्री से कहा—अगर वह सन्तान

प्राप्ति का कोई उपाय वतला दें तो हमारे सभी मनोरथ पूरे हो जाएं। मन्त्री की भी यही अभिलाषा थी।

दोनों एक दिन सन्त के पास पहुँचे। राजा ने सन्त से निवेदन किया—आप के अनुग्रह से हमारे यहाँ किसी चीज़ की कमी नहीं है; किन्तु पुत्र का अभाव हृदय मे खटक रहा है और इस कारण संसार का सारा वैभव भी हमें आनन्द नहीं दे रहा है। पुत्र के अभाव में हृदय में भी अँधेरा है, घर में भी अँधेरा है और राज्य मे भी अँधेरा है। आपकी दया हो जाय और पुत्र का मुँह देख सकूँ तो मेरा जीवन आनन्दमय हो जाय! मेरे मन्त्री की भी यही स्थिति है। दीनानाथ! हम आपकी दया के भिक्षुक वन कर आपके चरणो मे उपस्थित हैं।

सन्त ने कहा—पुत्र चाहिए तो पहले पिता का हृदय पा लो। पिता का हृदय न मिला और पुत्र मिल गया तो क्या लाभ होगा? न पुत्र को सुख मिल सकेगा, न तुम को ही सुख प्राप्त हो सकेगा। अतएव हे राजन्! पहले पुत्र के लिए चिन्ता न करो पितृ-हृदय पाने के लिए चिन्ता करो।

राजा ने कहा—महाराज! पुत्र के अभाव में कोई पिता नहीं होता और जव तक पिता नहीं है, तव तक पिता का हृदय वह कहाँ से लाये? आपको कृपा हो जाए तो मैं पिता का हृदय भी प्राप्त कर लूँ।

तव सन्त ने सहज मधुर स्वर में राजा से पूछा—यह तुम्हारी सारी प्रजा तुम्हारी वेटा-वेटी है या वाप है? जब से

तुम सिंहासन पर बैठे हो, प्रजा के माँ-बाप कहलाते आ रहे हो और इसमें गौरव और आनन्द मानते रहे हो, फिर भी प्रजा के प्रति तुम्हारे अन्तःकरण में सन्तान का भाव न पैदा हुआ तो अब और सन्तान पाकर क्या करोगे ? सन्तान पा भी लोगे तो उसके प्रति पुत्रभाव कैसे उत्पन्न कर सकोगे ? अतएव पहले हृदय में पिता का भाव पैदा करो। तब मैं तुमको बना-बनाया पुत्र दे दूँगा। वह तुम्हारा नाम रौशन करेगा।

इसके पश्चात् उस दार्शनिक सन्त ने कहा—सारे नगर में घोषणा करवा दो कि कल भिखारियों को दान दिया जायगा और उनकी इच्छापूर्त्ति की जायगी।

और उस सन्त की इस आज्ञा के सम्मुख राजा ने अपना शीश झुका दिया।

उसी दिन नगर भर में ढिंढोरा पिट गया। भिखारी तो भिखारी ही ठहरे। जब सुना कि कल राजा दान देगा तो फूले न समाये। धन थोड़ा नहीं मिलेगा, वारे-न्यारे हो जायेंगे ! फिर क्या था। दूसरे दिन हजारों की संख्या में भिखारी एक बाड़े में इकट्ठे हो गये।

राजा अपने मन्त्री को साथ में लेकर, शान के साथ वहाँ जाकर खड़ा हो गया। तब उस विद्वान सन्त ने कहा—यह राज-शाही और मंत्रीशाही रहने दो और साधारण आदमियों की तरह खड़े हो जाओ।

और दान का कार्य प्रारम्भ हुआ। बासी रोटियों के टुकड़े

भिखारियों को मिलने लगे। भिखारी देख-देख कर हैरान रह गये। इतनी बड़ी घोषणा के बाद यह दान ? और वह भी राजा की ओर से ? मगर क्या किया जा सकता है ? राजा से लड़ा भी तो नहीं जा सकता।

भिखारी रोटियों के टुकड़े ले-लेकर बाहर निकलने लगे। सन्त फाटक पर खड़े थे। भिखारी निकले तो सन्त ने उनसे कहा—यह रोटी का टुकड़ा मुझे दे दो तो मैं तुम्हे राजा बना दूँ।

भिखारी कहने लगे—महाराज, क्यों उपहास करते हो ? और कोई भी भिखारी अपना रोटी का टुकड़ा देने को तैयार न हुआ। वे समझ रहे थे कि राजा बनाने का लोभ देकर यह हज़रत रोटी का टुकड़ा भी छीन लेना चाहते हैं !

आखिर तो भिखारी ही ठहरे, उनकी कल्पना दूर तक कैसे पहुँच सकती थी ? और वे अपने-अपने रोटी के टुकड़े को छाती से लगाये वहाँ से जाने लगे। सन्त ने देखा—कोई भी अपना पूरा टुकड़ा देने को तैयार नहीं है ! तब उन्होंने उनसे कहा—अच्छा भाई, आधा टुकड़ा ही दे दो। दे दोगे तो मन्त्री बना दूँगा।

मगर गली के भिखारी को मन्त्री-पद का स्वप्न आता तो कैसे आता ? भिखारी निकलते गये और किसी ने आधा टुकड़ा भी नहीं दिया।

कई भिखारियों के निकल जाने पर एक लड़का आया। उसकी आँखों में एक तरह की निराली रोशनी थी, किन्तु दुर्भाग्य ने उसको भिखारी बना दिया था।

वह फाटक से निकलने लगा तो उससे पूछा गया—क्या मिला है?

लड़का—यह रोटी का टुकड़ा! जो हमारी तक़दीर में था, मिल गया। आख़िर भिखारी के भाग्य में रोटी के टुकड़े ही तो होंगे।

सन्त ने सोचा—इसकी वाणी में त्याग का रस आ गया है। यह अपनी मौजूदा परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको ढालने का प्रयत्न कर रहा है।

और सन्त ने उससे कहा—अच्छा, रोटी का टुकड़ा मुझे दे दो। मैं तुम्हें राजा बना दूँगा।

लड़के ने कहा—राजा बनायें या न बनायें, टुकड़ा तो ले ही लीजिये। मैं तो बड़ी आशा लेकर यहाँ आया था; पर इस टुकड़े पर भी मुझे सन्तोष है। अगर आपको इसकी जरूरत है तो इसे आप ले लीजिए।

सन्त—तो दे दो। मैं तुम्हें राजा बना दूँगा।

लड़का—आपकी इच्छा। लीजिए।

लड़के ने रोटी का टुकड़ा सन्त को दे दिया। सन्त ने उसे अपने पास एक किनारे खड़ा कर दिया और कहा—तुम यहीं ठहरना!

उसके बाद जो दूसरे आये, उनसे सन्त ने आधा-आधा टुकड़ा माँगा। किन्तु कोई देने को तैयार नहीं हुआ।

आखिर फिर एक लड़का निकला। सन्त ने उससे भी आधा

टुकड़ा माँगा और मन्त्री वना देने को कहा। लड़के ने कहा—आधा देने मे कोई हर्ज नहीं है। और उसने टुकड़ा तोड़ कर आधा सन्त को दे दिया। उस लड़के को भी पहले लड़के के पास खड़ा कर दिया गया।

सब भिखारी चले गये तो सन्त ने राजा से कहा—राजा और मन्त्री दोनो के योग्य पुत्र मिल गये है। राजा मे विराट भावनाएँ होनी चाहिएँ, सर्वस्व त्याग करने की वृत्ति होनी चाहिए और प्रिय से प्रिय वस्तु को न्यौछावर करने का हौंसला होना चाहिए। ये सब बातें इस लड़के में दिखाई देती है। रोटी का टुकड़ा इसके लिए बड़ी चीज़ थी, इसका सर्वस्व था, परन्तु इसने बिना किसी आनाकानी के उसे त्याग दिया है। दूसरे भिखारी उसी टुकड़े पर अटके रहे। सोचने लगे कि टुकड़ा दे देंगे तो हम क्या खाएँगे। पर इसने ऐसा विचार नहीं किया। अतएव यह राजा बनने योग्य है।

दूसरे लड़के की राजा बनने की भूमिका नहीं है, किन्तु उसने अपने हिस्से में से आधा टुकड़ा दे दिया है। मन्त्री बनने वाले में, राजा की अपेक्षा आधी योग्यता होनी चाहिए और यह योग्यता इसमें मौजूद है। अतएव दूसरा लड़का मन्त्री बनने योग्य है।

तो सन्त के कहने का तात्पर्य यह है कि संसार की जो वासनाएँ हैं, वे जूठे टुकड़े हैं। उन्हें छाती से चिपटाये क्यों फिर रहा है? उन्हें पूरी तरह त्याग देगा तो तुझे सन्त की गद्दी अर्थात् साधुता प्राप्त हो जायगी। और यदि उन वासनाओं को पूरी

तरह त्यागने की शक्ति नहीं है, तो कम से कम आधी तो त्याग ही दे। वासनाओं का कुछ भाग भी त्याग देगा तो सन्त की गद्दी न सही, श्रावक की पदवी तो मिल ही जायगी।

पूर्ण त्याग साधू की भूमिका है और इच्छाओं को सीमित करना अर्थात् जितनी आवश्यकता है, उससे अधिक का त्याग कर देना, श्रावक की भूमिका है। और यहाँ आवश्यकता का अर्थ है—जीवन की वास्तविक आवश्यकता! तो इच्छा को ही आवश्यकता मान लेना भूल होगी। तो जिसके अभाव में जीवन ठीक तरह निभ न सकता हो, वही जीवन की वास्तविक आवश्यकता समझी जानी चाहिए।

जिस मनुष्य के जीवन में इन दो चीजों में से एक चीज आ जाती है, उसका जीवन कल्याणमय बन जाता है। वह इसी जीवन में निराकुलता और सन्तोष का अपूर्व आनन्द अनुभव करने लगता है।

ब्यावर
१७—११—५०

अपरिग्रह और दान

अपरिग्रह का भाव जैनधर्म का मूल प्राण है—अपितु संसार भर के सभी धर्मों का हृदय है।

जीवन के सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हम जिन्दगी की जो यात्रा कर रहे हैं, उसमे अधिक से अधिक बोझ लाद कर चलें या कम से कम बोझ ले कर चलें? अधिक बोझ लाद कर यात्रा करने से यात्रा सुखकर होगी या कम बोझ लेकर चलने से यात्रा सुखकर होगी?

आप किसी यात्रा पर घर से रवाना हुए और बहुत सारा सामान लाद कर चले। आपने सोचा, रास्ते में बीमार हो जाएँगे तो दवाई साथ में होनी चाहिए। फिर सोचा—न जाने कौन-सी बीमारी घेर ले; अतएव सभी रोगों की दवाइयाँ साथ

रहनी चाहिएँ। इस प्रकार एक खासा अस्पताल साथ में बाँध लिया!

फिर खाने-पीने की समस्या आई। आपने खाने पीने की चोजें भी साथ में बांध लीं। खाना पकाने के सभी साधन भी रख लिये।

फिर वस्त्रों का ध्यान आया और वस्त्रों का एक ढेर भी रख लिया। कहीं सर्दी ज्यादा पड़ने लगी तो क्या होगा? यह सोच कर रजाई ले ली और ऊनी कपड़े भी बाँध लिये। किन्तु सर्दी न हुई और गर्मी लगी तो यह कपड़े क्या काम आयेंगे? यह सोच कर बारीक कपड़े भी रख लिये।

फिर विचार आया—एक चीज़ चोरी चली गई तो? तो दूसरी काम मे आयेगी, यह सोच कर हरेक चीज़ दोहरी बाँध ली।

इस प्रकार कल्पनाओं पर कल्पनाएँ करके आपने सामान का ढेर कर लिया और यह समझे कि यह सब हमारी आवश्यकताएँ हैं। फिर आप वह सब सामान लाद कर चले तो क्या आप सुखपूर्वक यात्रा कर सकेंगे? आपके क़दम हल्के पड़ेंगे या भारी? आपके क़दम भारी होंगे और थोड़ी ही देर में हाँफने लगेंगे। क़दम-क़दम पर बैठने का प्रयत्न करेंगे और पसीने से तर हो जाएँगे। सम्भव है तब, आप किसी दूसरे पर अपना बोझ लादने का प्रयत्न करें।

इसके विपरीत दूसरा आदमी चलता है, और केवल अपनी

आवश्यकता की ही चीजें लेकर चलता है, किन्तु आवश्यकताओं की कल्पना नही करता। सहज रूप मे जो आवश्यकताएँ है, उन पर तो वह विचार करता है, और उनके साधन भी जुटा कर चलता है। पर कल्पना से आवश्यकताए उत्पन्न करके बोझा नही ढोता है। तो उसके क़दम हल्के पड़ेंगे, वह सुखपूर्वक यात्रा कर सकेगा और आराम से अपनी मंज़िल को पा लेगा।

जो बात इस यात्रा के लिए है, वही जीवन-यात्रा के लिए भी है। संसार में आये हैं तो बैठ नहीं गये है और जब से जीवन ग्रहण किया है, तभी से जीवन गतिशील है। किन्तु प्रश्न यह है कि जब वह बचपन से जवानी मे चला तो इच्छाओ का अधिक बोझ लाद कर चला या हल्का वजन लेकर चला? और इसी प्रश्न में से अपरिग्रहव्रत निकल कर आता है।

तो, जो जीवन की आवश्यकताएँ नहीं है, जो ज़बर्दस्ती ऊपर से लादी गई हैं, वह सब जीवन का भार है। चाहे कोई व्रत हो, नियम हो या प्रत्याख्यान हो, यदि वह सहज भाव से उद्भूत नहीं हुआ है और बलात् लादा गया है तो वह भी जीवन के ऊपर भार ही है। यों तो अहिंसा, सत्य आदि सभी व्रत हमारे जीवन का महान् कल्याण करने वाले है और जीवन की समस्याओं को हल करने के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण साधन हैं, पर वे बलात् नहीं लादे जाते, ऊपर से नहीं लादे जाते, बल्कि अन्तरतर से ही उद्भूत होते हैं। ऐसा न हुआ और ऊपर से लादे गये तो समझ लीजिए कि वे पानी मे पड़े हुए पत्थर है।

पत्थर पानी में डाला जाता है तो वहाँ पड़ा रहता है और वर्षों तक पड़ा-पड़ा भी घुलता नहीं है। वह पानी का अंग नहीं बनता। तो जब तक पत्थर पानी में घुलकर उसी के रूप में न मिल जाय, पानी न हो जाय, तब तक पानी और पत्थर अलग-अलग हैं। हाँ, अगर मिश्री की डली पानी में डालोगे तो वह तुरन्त घुलकर पानी के साथ मिल जायगी—एक रस हो जायगी और उस पानी से एक मधुर पेय तैयार हो जायगा, जो पीते ही शान्ति प्रदान करेगा।

यही बात जीवन की साधना के सम्बन्ध में है। जो साधना जीवन में पत्थर की तरह पड़ी है और जीवन में घुल-मिल नहीं रही है, जीवन के साथ एकरस नहीं हो रही है, वह जीवन को वास्तविक साधना नहीं है। पुराने ज़माने में ऐसी साधनाएँ बहुत की जाती थीं, किन्तु जैनधर्म ने उनका विरोध किया। वे साधनाएँ केवल कष्ट देने के लिए थीं, उल्लास और आनन्द देने के लिए नहीं। इसीलिए जैनधर्म ने देहदंड और कोरा काय-क्लेश कह कर उनके प्रति अपनी अरुचि प्रकट की।

जीवन में सच्चा चारित्रबल उत्पन्न होना चाहिए और जब तक वह नहीं होगा, मनुष्य का कल्याण नहीं होगा। इस प्रकार ऊपर से लादी गई साधनाएँ जीवन को मंगलमय नहीं बना सकतीं और ऊपर से, कल्पना से, लादी हुई आवश्यकताएँ भी जीवन को सुखमय नहीं बना सकतीं। जो पथिक जितनी ही आवश्यकताएँ कम करके और जितना हल्का होकर जीवन की

यात्रा तय करेगा, वह उतनी ही अधिक सरलता से प्रगति कर सकेगा।

तो अहिंसा, सत्य आदि की साधनाओं को हमें जीवन का अंग बनाना है। और उन्हे जीवन का अंग बनाने मे जो कठिनाइयाँ हैं, उन्हीं को हल करने के लिए अपरिग्रहव्रत की आवश्यकता है।

वे कठिनाइयाँ क्या है? यही कि जीवन को बात स्वीकार कर लेते हैं तो संग्रह कर लेते हैं और संग्रह करते-करते इतनी दूर चले जाते है कि उसकी मर्यादा को भूल जाते है और खयाल ही नही रहता कि कहाँ तक संग्रह करें? इसके अतिरिक्त जो संग्रह किया है, उसका क्या और कैसे उपयोग करना है? यह भी नहीं सोचते।

संग्रह की सीमा और संग्रह का उद्देश्य ध्यान में रहता है तो हम समझते हैं कि हम जीवन के आदर्श को निभा रहे हैं, किन्तु जब इन दोनों बातों को भूल कर केवल संग्रह ही संग्रह करते चले जाते है तो जीवन आदर्शविहीन होकर भारभूत बन जाता है। यह भी इकट्ठा किया, वह भी इकट्ठा किया और सारी जिन्दगी इकट्ठा करने में ही समाप्त कर दी, तो इकट्ठा करने का प्रयोजन क्या हुआ? वह इकट्ठा करना जीवन के किस काम आया? उसने जीवन को कितना आगे बढ़ाया?

ऐसा संग्रह-परायण मनुष्य जब एक जीवन को त्याग कर दूसरे जीवन के लिए यात्रा करने की तैयारी करता है, तो उसका

मन अत्यन्त व्यथित होता है।

महमूद गजनवी वगैरह भारत में आये और लूट-लूट कर चले गये। उन्होंने सोने के पहाड़ और हीरे-जवाहरात के ढेर लगा लिए, मगर उनका उपयोग न कर सके। तो, जब उनके मरने का समय निकट आया तो बोले—वे ढेर हमारे सामने लाओ। जब ढेर सामने आये तो उस समय अपने जीवन का महत्व-पूर्ण प्रश्न उनके सामने आया कि यह ढेर क्यों किए? ये ढेर हमारे क्या काम आये? बस, यही जीवन का महत्वपूर्ण प्रश्न है। और जिसके जीवन में जितनी जल्दी यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है, वह उतना ही बड़ा भाग्यशाली है।

जब मनुष्य संसार में संग्रह करने के लिए दौड़ लगाता है तो अपने राष्ट्र, समाज और परिवार को भूल जाता है और कभी-कभी अपने आपको भी भूल जाता है। उसे खाने की आवश्यकता है; परन्तु खाता नहीं, विश्रान्ति की आवश्यकता है; किन्तु विश्रान्ति नहीं लेता। बस कमाना और कमाते जाना ही उसका काम रह जाता है। उसके जीवन का ध्येय जोड़ना है और वह जोड़ना क्यों है, यह बात उससे न पूछिए; यह उसे मालूम नहीं।

जो अपने आपको भूल जाता है, वह परिवार को कैसे याद रक्खेगा? परिवार में कोई बीमार है तो उसे चिकित्सा कराने की फ़ुर्सत नहीं है। बच्चों की शिक्षा के सम्बन्ध में सोचने का उसे अवकाश नहीं है। पत्नी की बीमारी का इलाज कराने का

उसके पास समय नहीं है। इस प्रकार जब वह परिवार का ही पालन-पोषण नहीं कर सकता तो समाज और राष्ट्र की तो बात ही क्या है ? उसके लिए इनका मानो अस्तित्व ही नहीं है ! और यह कितनी विचित्र बात है !

हमने एक जगह चौमासा किया। जहां हम ठहरे थे, पास ही एक बड़ी हवेली थी। उसके मालिक विदेश में रहते थे और हवेली की देख-रेख के लिए एक पहरेदार रहता था। उसको वेतन मिलता था और कुछ लोग कहते थे कि उसकी अपनी निजी पूँजी भी है; लेकिन दर्शनार्थी आते थे तो उनसे भी पैसा माँगता था और कहता था कि मेरी स्थिति खराब है।

वह बाज़ार से चने ले आता और हमारे सामने बैठ कर खाता, जिससे कि हमें भी उसकी स्थिति का ध्यान आ जाय ! और हमारे पूछने पर कहता—क्या करूँ महाराज ! कुछ खाने को नहीं है।

पहले तो हमारे मन में भी दया उपजी कि यह बेचारा कैसा ग़रीब है ! इसकी हालत कितनी खराब है कि बुढ़ापे में भी चने चबाने पड़ते हैं ! फटे-पुराने कपड़े पहनने पड़ते हैं ! पर बाद में मालूम हुआ कि इसकी इस दशा का कारण ग़रीबी नहीं, कंजूसी है ।

थोड़े दिन बाद ही वह बीमार पड़ गया। हवेली की पौली में पड़ा रहा। न कुछ दवा ही ली और न कुछ इलाज ही कराया। और वह कभी बेहोश हो जाता और कभी होश मे आ जाता।

उसके आगे-पीछे कोई था नहीं। कुछ भाइयों ने कहा—इन्तज़ाम करो, इसका अन्तिम समय निकट है।

फिर कुछ भाइयों ने सोचा—मरने को तो यह मरेगा और फिर हमारी आफत आ जाएगी! सरकार कहेगी—इसका धन कौन ले गया?

यह सोचकर उन्होंने सरकार को ख़बर दे दी। ख़बर पाकर तहसीलदार आया और उसने ताला तोड़ा तो, उसके पास पाँच हज़ार की सम्पत्ति निकली! कुछ नक़द और कुछ जेवर था। तहसीलदार भी चकित रह गया। इतनी सम्पत्ति इकट्ठी कर रक्खी है और हाल यह है।

तहसीलदार ने कहा—जितना दान करना हो, कर दो; पीछे जो सम्पत्ति रहेगी, उसका हम इन्तज़ाम करेंगे।

लोगों ने भी प्रेरणा दी—भाई, तुम्हारे आगे-पीछे कोई नहीं है। अन्तिम समय आ पहुँचा है। जो कुछ करना चाहो, कर लो। यह अवसर फिर कभी आने वाला नहीं।

वह चिढ़ कर कहने लगा—क्या मुझे आज ही मार डालना चाहते हो? जिन्दा रहूँगा तो क्या खाऊँगा?

लोगों ने कहा—अरे, अभी तक क्या खाया है? जो अब तक खाते रहे हो, वही आगे खाना। अब तक तो जोड़ते ही जोड़ते रहे हो!

तहसीलदार ने एक रुपया अपने पास से उसके हाथ पर संकल्प करने को रख दिया, तो उसने उसे लेकर अंटी में रखने का

प्रयत्न किया ! आखिर वह मर गया और सरकार ने उसके धन पर अधिकार कर लिया।

तो कुछ लोगो का ऐसा ही दृष्टिकोण होता है। वे समाज और राष्ट्र में से कट कर अपने आप मे ही सीमित हो जाते हैं। और कुछ लोग उनसे भी गये-बीते होते है। वे अपने आपसे भी निकल जाते है और अपने पिण्ड को भी नहीं देखते और शरीर की आवश्यकताओं को भी पूर्ण नही करते हैं। उनका काम केवल संचय ही संचय करना रह जाता है। वह शरीर से भी भिन्न किसी और तत्त्व में बँध जाता है।

वह तत्त्व परिग्रह है और मन की वासना है और वही मनुष्य को तंग करती है। प्रश्न भूखे मरने का नहीं, वास्तव में अपरिग्रह की भावना मन में नहीं आई है। अपरिग्रह की भावना जब तक नहीं आती तब तक इन्सान बाहर नही निकलता है, अपने टूटे-फूटे खंडहर से बाहर नहीं आता है। तो, जब तक मनुष्य टूटे मिट्टी के पिण्ड में से बाहर न आ जायेगा— काम नहीं चलेगा।

कुछ विचारकों का मत है कि इच्छाओं का परिमाण भले न किया जाय, मगर इच्छाएँ कम रक्खी जाएँ, कमाई बन्द न की जाय, किन्तु कमाई कर-कर के दान देते जाएँ। वे समझते हैं कि दुनियां भर की लक्ष्मी कमा कर दान दे देना बड़ा भारी पुण्य है। किन्तु; भगवान् महावीर को दृष्टि बड़ो विशाल है। उस दृष्टि के अनुसार पुण्य का यह ढंग प्रशस्त नहीं है। एक तरफ़

लोगों से छीना जाय और दूसरी तरफ उन पर बरसाया जाय, तो इसके परिणामस्वरूप अहंकार का पोषण होता है। अर्थात् जनता से ही लेना और फिर जनता को ही देना, सर्वस्व का दान नहीं है। और फिर लेना बहुत है और देना कम है, लिये में से भी बचा लेना है, तो इसका अर्थ यही है कि छीना-झपटी की जा रही है!

जैनधर्म ने दान को भी महत्व दिया है; परन्तु दान से पहले अपरिग्रह को महत्त्व दिया है। दान पैर में कीचड़ लगने पर धोना और अपरिग्रह कीचड़ न लगने देना है। नीतिकार कहते हैं—

प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम्।

कीचड़ को धोने की अपेक्षा, न लगने देना ही अच्छा है।

इसका अर्थ यह नहीं कि पैर में कीचड़ लग जाय तो लगा ही रहने देने का समर्थन किया जा रहा है। असावधानी से या प्रयोजन विशेष से कीचड़ लग जाने पर उसे धोना ही पड़ता है, किन्तु ऐसा करने की अपेक्षा श्रेष्ठ तरीका कीचड़ न लगने देना ही है। इसी प्रकार इच्छाओं का निरोध करना और अपरिग्रह व्रत को धारण करना उत्तम मार्ग है, किन्तु जब इस मार्ग पर चलने की तैयारी नहीं है, और धन का उपार्जन करना नहीं छूटता है, अथवा अपरिग्रह व्रत को अंगीकार करने से पहले जो संचय कर लिया गया है, उसे दान कर देना भी अच्छा ही है। दान में अहंकार का खतरा है और अपरिग्रह में ऐसा कोई खतरा

नहीं है।

अतएव जैनधर्म का यह आदेश है कि अपनी इच्छाओं के आगे ब्रेक लगा दो और जीवन की गाड़ी, जो अमर्यादित रूप मे चल रही है, दूसरों को कुचलती हुई चल रही है, उसे रोक दो या मर्यादित रूप में चलने दो। और जब उसे मर्यादित करो तो ऐसा मत करो कि पहले तो किसी को घायल करो और फिर उस की मरहम पट्टी करो। यह जीवन का आदर्श नहीं है।

पुराने ज़माने में मिमाई, मानव-रक्त से बनने वाली एक औषधि विशेष=मरहम के लिए ऐसी बात होती थी कि कुछ लोग किसी को पकड़ कर उल्टा लटका देते थे और उसके सिर मे घाव कर देते थे। उसके सिर से ख़ून की एक-एक बूँद टपका करती थी और नीचे रक्खी हुई कढ़ाई में गिरा करती थी।

इस प्रकार एक-एक बूँद ख़ून निकाला जाता था और ख़ून निकाल लेने के बाद उसे छोड़ दिया जाता था, मरने नहीं दिया जाता था। उसके बाद उसे फिर अच्छा खाना खिलाया जाता और जब फिर ख़ून तैयार हो जाता तो फिर उसी प्रकार लटका कर ख़ून निकाला जाता था।

उपर्युक्त उदाहरण का तात्पर्य यह है कि पहले किसी पर घाव करना और फिर मरहमपट्टी करना, साधना का कोई महत्त्वपूर्ण अंग नहीं है। छीनाझपटी करो, ठगाई करो और फिर वाह-वाह पाने के लिए दान करो और दान देकर अहंकार करो, और अहंकार से अपने आपको कलुषित करो, इसकी

अपेक्षा अपरिग्रह व्रत को ले लो, त्याग कर दो, छीनाझपटी बन्द कर दो और शोषण करना बन्द कर दो, यही तरीक़ा श्रेष्ठ है।

अगर आप इतना ऊँचा नहीं उठे हैं कि जीवन की आवश्यकताओं की पूरी तरह उपेक्षा कर दें, और उसके लिए किसी वस्तु पर निर्भर न रहें, तो अपनी आवश्यकताओं की सूची तो तैयार कर ही सकते हैं। तो, ऐसा नहीं होना चाहिये कि उठे और दौड़ लगाते रहे और धन जोड़ते रहे, और नई-नई आवश्यकताओं के पीछे पचास-साठ वर्ष गुज़ार दिये और फिर भी जीवन की आवश्यकताओं की तालिका का पता ही न लगा। यह भी न समझ पाये कि जीवन की आवश्यकताएँ क्या है ? ऐसा तो नहीं होता कि कोई बाज़ार में जाय और उसे यही मालूम न हो कि मेरी आवश्यकताएँ क्या हैं ? कोई सारे बाज़ार को तो समेट लाने का प्रयत्न नहीं करता। होता यही है कि घर से निकलने के पहले मनुष्य अपनी आवश्यकताओं का विचार कर लेता है, मुझे अमुक चीज़ें चाहिएँ—ऐसा निश्चय कर लेता है और फिर बाज़ार में निकलता है।

तो जीवन के बाज़ार में भी जीवन की तालिका बनाकर चलना चाहिए और जो इस प्रकार चले हैं, वही अपरिग्रही हैं। यही श्रावक का अपरिग्रह व्रत है।

भगवान् महावीर के पास कोई साधक आया, सम्राट आया या ग़रीब आया, तो, उन्होंने यही कहा कि अपने जीवन की

आवश्यकताओं को समझो। आज तक नहीं समझ सके हो तो अंधे की तरह दौड़ रहे हो। आखिर बाजार मे पागलों की तरह नहीं दौड़ना है, बुद्धि लेकर चलना है।

तो, जीवन के बाजार में भी सब से पहले अपना दृष्टिकोण निर्धारित कर लेना है। क्या करना है और क्या-क्या हमारी आवश्यकताएँ है, यह सोच लेना है और सोच लेने के बाद आवश्यकता से अधिक नहीं लेना है। ऐसा करने पर ही जीवन के बाजार मे पैठ हो सकती है। और ऐसा करने से पहले अपने मन से सलाह लेनी चाहिए और उसे राजी कर लेना चाहिए।

और इस प्रकार आवश्यकताओं का पता लगा कर शोषण वन्द कर देना चाहिए। जो मनुष्य इस तरीके से चलता है, उसी का जीवन कल्याणमय वन सकता है और वही जीवन का वास्तविक लाभ उठा सकता है। इसके विपरीत, जो अपनी आवश्यकताओं पर विचार नहीं करता, उन्हे निर्धारित नहीं करता, आँखें मींच कर उनकी पूर्ति करने मे ही जुटा रहता है-तो, वह अपना समूचा जीवन बर्बाद कर देता है और उसके हाथ कुछ भी नहीं आता। अन्त मे वह शून्य का भागी होकर पश्चाताप करता है। उसे जीवन का रस नहीं मिल पाता।

अपनी वास्तविक आवश्यकताओं को समझ लेने और उन से ज्यादा संग्रह न करने से ही संसार के संघर्ष समाप्त हो सकते हैं। हमारे देश में आज जो संघर्ष चल रहे हैं, उन्हें शान्त करने का यह सर्वोपरि उपाय है।

एक आदमी कपड़े की दूकान करता है। ज्योंही उसके पास काफ़ी पैसा जुड़ जाता है तो उसे किसी तरह काम में लगाने की फ़िक्र करता है और उस पैसे से और पैसा लाने की सोचता है। इस रूप में वह सर्राफा की या अनाज की दूसरी दूकान खोल लेता है और तब और भी अधिक पैसा इकट्ठा हो जाता है। और तब उसको भी वह उपार्जन में लगाने की फ़िक्र करता है, क्योंकि पैसा निठल्ला नहीं बैठ सकता, उसको तो हरकत चाहिए। और इस तरह वह एक आदमी ही एक दिन सारे बाज़ार पर कब्ज़ा कर लेता है।

अब तक मुझे ऐसे कई आदमी मिले है, जिन्होंने मुझसे कहा है कि उनके यहाँ अमुक-अमुक तरह की दूकानें हैं। मैं सब की सुना करता हूँ। वे समझते हैं कि हम अपना गौरव प्रदर्शित कर रहे हैं और मैं सोचता हूँ कि इन्होंने सारे बाज़ार पर कब्ज़ा कर लिया है तो दूसरों को कमाने की जगह रहेगी या नहीं?

लेकिन मनुष्य परिग्रह की वृद्धि में ही अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं। हिंसक हिंसा करके शर्मिन्दा होता है, झूठ बोलने वाले को झूँठा कह दिया जाय तो वह अपना अपमान समझता है और इससे पता चलता है कि वह स्वयं झूँठ को निन्दनीय मानता है। चोर चोरी करके अपने को गुनहगार समझता है और अपने आप को छिपाता है, कम-से कम चोरी करने का ढिंढोरा नहीं पीटता। व्यभिचारी आदमी व्यभिचार करता है तो लुक-छिप कर करता है और अपने लिए कलंक की बात समझता है। इन

पापो का आचरण करने वाले अपने पाप का बखान नहीं करते, किन्तु परिग्रह का पापी अपने आपको पापी नहीं समझता और उस पाप के लिए लज्जित भी नहीं होता। यही नहीं, इस पाप का आचरण करने में आज गौरव समझा जाता है और बड़े अभिमान के साथ इस पाप का बखान किया जाता है। समाज ने भी, जान पड़ता है, इस पाप को पाप नही मान रक्खा है और यही कारण है कि आज के समाज मे परिग्रह के पाप की बड़ी प्रतिष्ठा देखी जा रही है। देश में, समाज में, जात-बिरादरी में, विवाह-शादी के अवसर पर, सार्वजनिक सस्थाओं के जल्सों में, इस प्रकार प्रत्येक अवसर पर परिग्रह के पापियों की ही प्रतिष्ठा होती देखी जाती है। और घोर आश्चर्य की बात तो यह है कि जो जितना बड़ा परिग्रह-पापी है, वह उतना ही पुण्यशाली समझ लिया जाता है। हमारा अपरिग्रही निर्ग्रन्थ वर्ग भी ऐसे लोगों से प्रभावित और अभिभूत हो जाता है और मैंने सुना है, अपने व्याख्यानो मे वह उनका यशोगान करने मे भी संकोच नही करता है।

जब त्यागीवर्ग परिग्रह के पाप को पुण्य के सिंहासन पर आसीन कर दे तो फिर दुनियाँ में उलटपलट क्यों न होगी? लोग परिग्रह की आराधना क्यो न करेंगे? समाज भी और त्यागीवर्ग भी जिस पाप को प्रशंसनीय समझ ले, उस पाप का सर्वत्र आदर क्यों न होगा? उस पाप की वृद्धि क्यों न होगी? उस पाप का आचरण करके लोग क्यों न गौरव का अनुभव करेंगे?

तो, जब परिग्रह को पाप की कोटि में से निकाल दिया गया है, तो, आज भगवान् महावीर की वाणी और सारे शास्त्र नारों के रूप में रह गये हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कहने भर के लिए पाँच पाप रह गये हैं, परन्तु व्यवहार में चार ही पाप माने जाते हैं। परिग्रह पाप नहीं रहा। धन के ग़ुलामों ने उसे पुण्य के आवरण से ढँक दिया है!

मैं समझता हूँ कि इस प्रकार पाप को पुण्य समझना मानव जाति के लिए अत्यन्त अमंगल की बात है। यह मनुष्य के पतन की पराकाष्ठा है। यही संघर्षों और विद्रोहों की जड़ है। जब तक मनुष्य परिग्रह के पाप को फिर से पाप न समझ ले और भगवान् महावीर की वाणी को स्वीकार न कर ले, तब तक उसका निस्तार नहीं है, कल्याण नहीं है, त्राण नहीं है, तब तक उसकी अशान्ति का अन्त नहीं है। पाप को पुण्य मान कर संसार कभी सुख-शान्ति के दर्शन नहीं कर सकता।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि मिलने वाले लोग बड़े अभिमान के साथ यह बतलाते है कि मेरी अमुक-अमुक चीज़ की दूकानें हैं। ये अनेक दूकानों के मालिक जब स्थानीय बाज़ार पर अधिकार कर लेते हैं तो फिर बाहर के बाज़ारो की ओर उनकी निगाह जाती है—और बम्बई तथा कलकत्ता में अपनी फ़र्में खोलते हैं! और जब एक-एक आदमी इतना लम्बा रूप लेकर चलता है, तो शोषण की वृत्ति भी बढ़ती जाती है!

इस शोषण वृत्ति को रोकने के लिए भगवान् महावीर का

दिशापरिमाण व्रत है। तुम अपने व्यापार को कहाँ तक फैलाना चाहते हो और व्यापार के लिए कहाँ तक दौड़-धूप करना चाहते हो, इसका परिमाण कर लो।

इस रूप मे किसी ने पाँच सौ या एक हज़ार योजन का परिमाण किया तो प्रश्न हुआ—क्या परिमाण करने वाला उसके आगे जा सकता है या नहीं ?

कल्पना कीजिए, एक आदमी अपने परिमाण को अन्तिम सीमा तक चला गया और सीमा के अन्तिम छोर पर जाकर वह रुक गया। मगर वहाँ पहुँच कर वह देखता है कि उससे दस क़दम आगे किसी वहिन या माता की इज्ज़त लुट रही है। तो, प्रश्न होता है कि वह उस माँ या वहिन की रक्षा के निमित्त परिमाण से बाहर की भूमि पर जाये या नहीं ?

और यह प्रश्न आज का नहीं है। पुराने ज़माने में भी यह सवाल उठा था कि ऐसे प्रसंग पर वह आगे जाय या वहीं खड़ा-खड़ा देखा करे और उसकी आँखों के सामने सारी गड़वड़ होती रहे !

इस प्रसंग पर एक सिपाही की बात याद आ जाती है। सिपाही किसी बंगले के बाहर पहरा दे रहा था। बंगले के दरवाज़े पर लिखा था—'बिना इजाज़त अन्दर मत आओ।'

अचानक चोरों ने प्रवेश किया और वे चहारदीवारी के अन्दर घुस गये। यह देख कर सिपाही उनके पीछे दौड़ा। तब तक चोर कमरे के अन्दर घुस गये। सिपाही द्वार पर पहुँचा तो

उसकी दृष्टि साइन-बोर्ड पर पड़ी। लिखा था—'बिना इजाज़त अन्दर मत आओ।' यह देख कर सिपाही बाहर ही खड़ा रह गया! चोर सामान समेट कर रफूचक्कर हो गए।

तो, शास्त्रों में दिशापरिमाण का जो विधान किया गया है, वह विधान इस प्रकार का रूप ग्रहण न कर ले और अर्थ का अनर्थ न हो जाय, इस हेतु से हमारे भाष्यकारों ने विचार किया है और स्पष्ट रूप में कहा है कि दिशापरिमाणव्रत का उद्देश्य यही है कि तुम किसी वासना की पूर्ति के लिए आगे नहीं जा सकते हो; पाँच आस्रवों के सेवन के लिए जाने का तुम्हारे लिए निषेध है। यदि किसी की रक्षा का प्रश्न है और किसी के जीवन का प्रश्न है तो जन-कल्याण के लिए जाने में दिशापरिमाण व्रत बाधक नहीं बनता। जन-कल्याण के लिए पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक भी जा सकते हो।

इस रूप में दिशापरिमाण का अर्थ यही है कि मनुष्य अपनी दौड़ का घेरा निश्चित कर ले कि वहाँ तक मुझे जाना है और वहाँ से आगे नहीं जाना है। इस प्रकार अपने आपको तैयार कर लेने के लिए ही इस व्रत का विधान किया गया है।

यह एक बहुत बड़ी क्रान्ति थी, बड़ा इन्क़िलाब था।

आज एक देश दूसरे देश को लूटना चाहता है और जब जिसे मौक़ा मिलता है, तब एक दूसरे को लूटता है। सब देश म्यान से बाहर तलवारें निकाल कर खड़े हैं और चाहते हैं कि हमें ऐसी मंडियाँ मिलती रहें कि बिना किसी विघ्न-बाधा के

हमारी लूट चलती रहे। इस प्रकार एक दूसरे का शोषण करना चाहते हैं और दूसरे देश के धन को अपने कब्ज़े में करना चाहते हैं।

पहले ज़माने मे किसी राजा की सुन्दरी कन्या होती थी तो उसकी खैर नहीं थी। उस पर दूसरे राजा अपनी आँखें गड़ाये रहते थे। किन्तु लूटने की भावना इतनी नहीं थी। आज एक देश के दूसरे देश पर जो हमले होते है, वे व्यापारिक दृष्टि से ही होते हैं। किसी देश में तेल का कुआ निकल आया या यूरेनियम की या हीरे की खान निकल आई तो दूसरे देशों की आँखें उधर घूम जाती हैं। और जब मौक़ा पाते हैं तो उस पर अधिकार करके उसे लूटने का प्रयत्न करते हैं। तो आजकल होने वाले युद्धो का मूल व्यापारिक लूट है।

तो, इस दृष्टि से भगवान् महावीर की साधना एक महत्त्वपूर्ण सन्देश लेकर चलती है। वह सन्देश यही कि पहले अपने जीवन पर ब्रेक लगा लो। जहाँ तक तुम्हारी आवश्यकताएँ हैं, उनसे आगे न बढ़ो, न किसी देश पर कब्ज़ा करो, न किसी देश के साधनों पर कब्ज़ा करो और न दूसरे की रोटियाँ छीनने की कोशिश करो।

यही महत्त्वपूर्ण बात है और इसी में से अपरिग्रह व्रत निकल कर आया है। पहले अपने जीवन की आवश्यकताओं को समझो और आवश्यकताओं से अधिक धन का संचय करना बन्द कर दो।

वह इस प्रकार है :—

एक राजा था और उसके तीन लड़के थे। राजा बूढ़ा हो गया तो उसे अपना अधिकारी चुनने की चिन्ता हुई। उसने सोचा—तीन पुत्रों में से किसे उत्तराधिकारी बनाया जाय ?

आम तौर पर या तो ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकार दिया जाता है, या फिर राजा अपने सब से अधिक प्रिय पुत्र को उत्तराधिकार दे देता है। पर बूढ़ा राजा इन दोनों तरीकों को पसन्द नहीं करता था। उसके लिए तीनों पुत्र समान रूप से प्रिय थे और वह ज्येष्ठता को योग्यता का प्रमाण नहीं समझता था। उसका विचार दूसरा था। उसने अपनी प्रजा का पुत्र के समान पालन-पोषण किया था और प्रजा उसको अपना पिता समझती थी। जो राजा और प्रजा के बीच के इस मधुर सम्बन्ध को क़ायम रख सके, जो इस पवित्र परम्परा को क़ायम रख सके, और इस दृष्टि से जो सर्वाधिक योग्य हो, उसी को राजा बनाना चाहिए; यही बूढ़े राजा का दृष्टिकोण था।

राजा ने अपने मन्त्री से परामर्श किया कि तीनों राजकुमारों में से किसे उत्तराधिकारी बनाया जाय ? पर मन्त्री के लिए भी यह निर्णय करना कठिन था। आख़िर यह निश्चय हुआ कि राजकुमारों की परीक्षा कर ली जाय और जो सब से अधिक योग्य साबित हो, उसे राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया जाय।

तीनों राजकुमारों को राजमहल में भोजन के समय आमन्त्रित किया गया। समय पर तीनों राजकुमार आ गये और

उन्हे भोजन के लिये आसनों पर बिठला दिया गया। भोजन के थाल उनके सामने रख दिये गये। पर ज्योंही वे जीमने को तैयार हुए कि तीन भयँकर शिकारो कुत्ते उन पर छोड़ दिये गये। कुत्ते भौंकते हुए ज्यों हीं कुमारों के पास आये कि उनमे से एक राजकुमार तो भयभीत हो गया। उसने सोचा—आज यह शिकारी कुत्ता मेरा ही शिकार करेगा! क्या इसीलिए हमें बुलाया गया है। वह राजकुमार यह सोच कर और अपने प्राण बचा कर भागा और उसके भोजन को कुत्ता खा गया। दूसरा राजकुमार हिम्मत वाला और बहादुर था। वह भागा नहीं। उसने इधर-उधर देखा तो उसे एक डंडा मिल गया। कुत्ता ज्योंही उसके पास आया, उसने लपक कर कुत्ते के सिर में एक डन्डा जमाया। कुत्ता पीछे हट गया। राजकुमार खाने लगा। मगर कुत्ता फिर हमला करता है और राजकुमार फिर उसे डन्डा मार कर भगा देता है।' इस प्रकार राजकुमार और कुत्ते का द्वन्द्व चालू रहा और राजकुमार भोजन करता रहा।

तीसरे राजकुमार की ओर भी जैसे ही तीसरा कुत्ता आया तो, वह न तो भयभीत होकर भागा ही और न क्रुद्ध होकर उसने डन्डा ही सँभाला, किन्तु अपने थाल मे से जिसमें आवश्यकता से अधिक भोजन भरा था, कुछ टुकड़े कुत्ते को डाल दिये। इस तरह कुत्ता भी खाने लगा और राजकुमार भी आनन्द से खाने लगा। इस प्रकार जब-जब कुत्ता भौंका तब-तब वह टुकड़ा डालता रहा। आखिर, उसने भी आनन्द से भोजन किया और कुत्ते को भी

सन्तोष हो गया। थोड़ी देर बाद कुत्ते की हमला करने की वृत्ति हट गई। उसमें सहृदयता के भाव आ गये और वह दुम हिलाने लगा। दूसरे लड़के ने कुत्ते से लड़ते-लड़ते ही जैसे-तैसे अपना भोजन समाप्त किया।

कहानी समाप्त हो गई और राजकुमारों की परीक्षा भी समाप्त हो गई। इसके बाद राजा ने मन्त्री से परामर्श किया—किसे उत्तराधिकारी बनाना चाहिए? दोनों ने सोचा—जो मैदान छोड़ कर भाग गया, उसे तो उत्तराधिकारी बनाने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जीवन में संघर्ष भी होते है, प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी आती हैं। हमें ऐसा उत्तराधिकारी नहीं चाहिए जो ऐन मौक़े पर मदान छोड़ कर भाग जाय, जो जीवन की कठिनाइयों का मुक़ाबिला न कर सके! ऐसा कायर पुरुष देश का और जनता का कल्याण नहीं कर सकता। ऐसे पुत्र को उत्तराधिकारी बनाना साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर देना है।'

तो, सोचा गया—क्या दूसरे को उत्तराधिकारी बनाया जाय? वह वीर है, बहादुर है और अन्त तक संघर्ष करने वाला है। किन्तु संसार में केवल तलवारों के भरोसे ही फ़ैसला नहीं होता है। यह वह आदमी है जो अपनी चीज़ की रक्षा करेगा! और स्वयं मौज करेगा, किन्तु दूसरों को कोई सान्त्वना नहीं देगा; वह अन्याय और अत्याचार के बल पर और तलवार के भरोसे पर दूसरों को समाप्त कर देगा। वह प्रजा की भूख की परवाह नहीं करेगा। वह भागेगा नहीं, ज़िन्दगी भर ख़ून बहायगा। तो,

ऐसे आदमी को भी उत्तराधिकारी नहीं बनाया जा सकता है। वह तो देश में अशान्ति की लहरें ही पैदा करता रहेगा।

शेष रहा तीसरा राजकुमार, बस, वही उत्तराधिकार के योग्य है। उसने खुद भी खाया और किसी को डंडा भी नहीं दिखलाया–उसने बुद्धिमानी के साथ स्वयं खाया और दूसरे को भी खिलाया। और इस प्रकार उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी को भी अपना प्रेमी बना लिया। उसके पास अपनी आवश्यकता से अधिक जो साधन थे, उनसे उसने दूसरे को लाभ पहुँचाया। इसी प्रकार की वृत्ति की जीवन में आवश्यकता है। जो संघर्ष के समय बुद्धिमता का परिचय दे, अपनी आवश्यकताओं की भी पूर्ति करे और दूसरों की आवश्यकताओं का भी ख़याल रक्खे, वही योग्यता और सफलता के साथ राज्य का संचालन कर सकता है और प्रजा के प्रति वफादार रह सकता है।

जिस देश, समाज और परिवार में ऐसे उत्तराधिकारी होते हैं, वही देश, समाज और परिवार फलते-फूलते हैं। आख़िर, राजा ने उस तीसरे राजकुमार को अपना उत्तराधिकारी बना दिया।

संघदासगणी के इस रूपक का भाव यह है कि जब अपना उत्तराधिकारी बनाने का विचार करो तो इस दृष्टिकोण से विचार करो। देख लो कि तुम्हें कायर और भगोड़े को उत्तराधिकारी बनाना है, दूसरों को डंडे मार-मार कर अपना पेट भरने वाले को उत्तराधिकारी बनाना है, या स्वयं भी खाने और दूसरे को

भी खिलाने वाले को अपना उत्तराधिकारी बनाना है ?

अभिप्राय यह है कि आप जो परिग्रह इकट्ठा करते हो तो उसकी मर्यादा कर लो और उस पर ऐसा एकाधिकार मत बनाये रक्खो कि उसमें से कुछ भी किसी दूसरे के काम न आए। तुम्हारे साधनों से दूसरों का भी कल्याण होना चाहिए। समाज के लाभ में भी उनका व्यय होना चाहिए। और समाज के लाभ में व्यय करते समय यही समझना चाहिए कि मैं अपने पापों का प्रायश्चित कर रहा हूँ, किसी पर अनुग्रह नहीं कर रहा हूँ। व्यक्तियों में यह वृत्ति होगी तो समाज और देश का कल्याण होगा और वह व्यक्ति भी कल्याण का भागी होगा।

ब्यावर
१८—११—५०

परिग्रह क्या है ?

अपरिग्रह क्या है और अपरिग्रहव्रत की साधना किस प्रकार की जा सकती है, इस विषय में काफ़ी विचार आपके सामने रक्खे जा चुके हैं। और आज भी इसी सिलसिले में कुछ बातें और कहनी हैं।

बात यह है कि मनुष्य जब तक गृहस्थी के रूप में रहता है, दुनियादारी उसके पीछे है। परिवार, समाज तथा देश के साथ उसका सम्बन्ध बना हुआ है, इसलिए उसे कुछ न कुछ संग्रह करना पड़ता है। इस रूप में संग्रह किए बिना और परिग्रह रक्खे बिना वह अपना जीवन ठीक तरह चला नहीं सकता।

भिक्षु और गृहस्थ का जीवन, अन्दर में तो एक ही रास्ते पर चलता है, किन्तु क़दम कुछ आगे-पीछे अवश्य होते हैं। इस रूप

में साधु के क़दम तेज़ और गृहस्थ के क़दम ढीले माने गये हैं। किन्तु मार्ग दोनों का एक ही है। कुछ लोग कहते हैं कि साधु का मार्ग अलग है और गृहस्थ का मार्ग अलग है, मगर वास्तव में बात ऐसी नहीं है।

सम्भव है, यह बात सुनकर आपको आश्चर्य हो, आपके मन में संकल्प-विकल्प उत्पन्न हों और आप सोचने लगें कि हम तो दोनों के मार्ग अलग-अलग सुनते आ रहे हैं! फिर दोनों का मार्ग एक किस प्रकार हो सकता है?

जब आप ऐसा विचार करने लगें तो यह भी विचार करें कि साधु का मार्ग अहिंसा और सत्य का मार्ग है तो श्रावक का मार्ग क्या है? क्या श्रावक का मार्ग हिंसा और असत्य का है? श्रावक बनने के लिए क्या हिंसा का आचरण करना चाहिए? असत्य का सेवन करना चाहिए? और मेरे इन प्रश्नों के उत्तर में आप कहेंगे—नहीं। तो, वास्तविक बात यह है कि जो मार्ग साधु का है, वही गृहस्थ श्रावक का भी है। साधु की अहिंसा, गृहस्थ की अहिंसा से अलग नहीं है। और न दोनों के सत्य के रूप-रंग में ही कुछ अन्तर है।

अलबत्ता, यह सही है कि गृहस्थ दुनियादारी के बन्धनों को लेकर चलता है, मर्यादा बाँधकर चलता है, इसलिए उसके क़दम तेज़ नहीं पड़ पाते। साधु के ऊपर समाज और देश का व्यवहारिक उत्तरदायित्व नहीं होता, दूसरों की कोई बड़ी जवाबदारी नहीं होती, केवल अपने जीवन का उत्तरदायित्व होता है। इस रूप में वह

हल्का होता है—लघुभूतविहारी होता है, इस कारण साधु के क़दमों की गति भी तेज़ होती है। इस प्रकार एक की गति मंद और दूसरे की तीव्र होती है, परन्तु दोनों के मार्ग में कुछ भी अन्तर नहीं है।

अगर दोनों के मार्ग में अन्तर मान लिया तो बड़ा गड़बड़ होगी। साधु की साधना का लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष मार्ग में ही वह गति करता है। तो, गृहस्थ का मार्ग, साधु के मार्ग से यदि भिन्न है तो वह मोक्ष मार्ग से भिन्न और परम उपयोगी मार्ग फिर कौन सा है ? मार्ग तो दो ही है—मोक्ष मार्ग और संसार मार्ग। गृहस्थ का मार्ग यदि मोक्ष मार्ग नहीं है तो क्या संसार मार्ग है ? आखिर श्रावकधर्म की साधना का फल क्या है ? क्या श्रावकधर्म संसार अर्थात् जन्म-मरण की वृद्धि करने वाला है ?

संसार का मार्ग आस्रव का मार्ग है और मोक्ष का मार्ग संवर का मार्ग है। तो, श्रावक की अहिंसा और सत्य आदि की साधना को संवर में गिना जाय या आस्रव में ? यदि उसे संवर में गिनें तो वह संवर मोक्ष का मार्ग है या संसार का मार्ग है ? संवर यदि मोक्ष का मार्ग है तो इसका अर्थ यही हुआ कि गृहस्थ का अहिंसा, सत्य आदि का मार्ग भी मोक्ष मार्ग ही है और इस रूप में दोनों का मार्ग अलग-अलग नहीं है। साधु का जीवन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के मार्ग पर चलता है और श्रावक का जीवन भी इसी मार्ग पर चलता है। दोनो का स्तर अलग-अलग होने पर भी दोनों का मार्ग अलग-

अलग नहीं है।

आचार्य से प्रश्न पूछा गया कि मोक्ष का मार्ग क्या है? तो, उन्होने उत्तर दिया—

सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।

अर्थात्—सम्यग्दर्शन—सत्य का दर्शन, सत्य का प्रामाणिक ज्ञान और सम्यकचारित्र का पालन, यही सब मिलकर मोक्ष का मार्ग है।

पहले सम्यग्दर्शन, फिर सम्यग्ज्ञान और पीछे चारित्र आता है। भगवान् महावीर ने भी यही कहा है—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण बिना न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।

उत्तराध्ययन, अ० २८

अर्थात्—जब तक तुम्हारे हृदय में, अन्तरात्मा में, सम्यग्दर्शन का आविर्भाव नहीं होगा, सत्य के प्रति दृढ़ आस्था नहीं होगी, तुम्हारे विश्वास में ढीलापन रहेगा, सत्य के प्रति सुनिश्चित संकल्प जागृत नहीं होगा, तब तक सम्यग्ज्ञान भी तुमको नहीं होगा। केवल पुस्तकें पढ़ लेने मात्र से, शास्त्रों में माथापच्ची करने से और हज़ार दो हज़ार श्लोक या गाथाएँ रट लेने से कुछ नहीं होगा। सच्चा ज्ञान, सत्य के प्रति दृढ़ संकल्प होने पर ही आ सकता है। अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होगा, सम्यग्ज्ञान नहीं आएगा। और जब तक सम्यग्ज्ञान नहीं होगा, सत्य की ज्योति के दर्शन नहीं होंगे, संसार और मोक्ष का भेद

समझ में नहीं आ जायेगा और जब तक दोनों के स्वरूप को विश्लेषण करके न समझ लोगे तो आचरण क्या करोगे ? अर्थात् ज्ञान के बिना चारित्र नहीं हो सकता। कहा है—

अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।

जिसे सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं हुई है, उसे मोक्ष भी नहीं प्राप्त हो सकता और मोक्ष प्राप्त हुए बिना पूर्ण शान्ति नहीं मिल सकती।

इस प्रकार चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ हो, दोनों के लिए यही मार्ग है और यही विधान है। साधु भी इसी रत्नत्रय की आराधना करता है और श्रावक भी इसी रत्नत्रय की आराधना करता है। एक की आराधना सर्वाराधना है और दूसरे की आराधना देशाराधना है, मगर आराधना दोनों की ही है और है भी रत्नत्रय की ही ! तो, साधु और श्रावक का मार्ग फिर अलग-किस प्रकार हो सकता है।

जिस मार्ग पर साधु चल रहा है, उसी मार्ग पर श्रावक भी चल रहा है। साधु आगे-आगे चल रहा है और श्रावक पीछे-पीछे और धीमे-धीमे ! तो, दोनों में आगे पीछे का अन्तर है, मार्ग का भेद नहीं है।

कहा जा सकता है कि गृहस्थ चलता तो है, पर संसार में ही अटक जाता है। स्वर्ग में चला जाता है या अन्यत्र कहीं और। वह सीधा मोक्ष में नहीं पहुँचता है। यह ठीक है, क्योंकि उसकी साधना अपूर्ण होती है, वह अपनी साधना को पूर्ण नहीं कर

पाता है और जब पुनः साधना करता है और उसमें पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो मोक्ष पा लेता है। तो, यह बात तो साधु के विषय में भी है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक साधु एक ही जीवन में अपनी साधना की पूर्णता पर पहुंच जाये और इस लिए मुक्ति प्राप्त कर ले। बल्कि, आज के ज़माने में तो कोई भी साधु इसी भव से मोक्ष नहीं पा सकता। उसे भी स्वर्ग में जाना पड़ता है। तब क्या श्रावक की तरह आज के साधुओं का मार्ग भी अलग मानना पड़ेगा?

तो आशय यह है कि जहाँ तक अहिंसा और सत्य आदि का सवाल है, अलग-अलग नहीं है, किन्तु जीवन के व्यवहार अलग-अलग हैं; और उन्हीं जीवन के व्यवहारों को लेकर हम साधु और श्रावक का भेद करते हैं और इस रूप में साधु का जीवन अलग है और गृहस्थ का जीवन अलग है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देनी है और वह है कि मेरे इस विवेचन का अर्थ यह न निकाला जाय कि गृहस्थ और साधु की अहिंसा और सत्य एक ही हैं—तो उनके उत्तरदायित्व भी एक ही हैं। स्पष्ट किया जा चुका है कि दोनों में जहाँ अभेद है, वहाँ दोनों की श्रेणियों में भेद भी है। और इस कारण गृहस्थ पर अपने परिवार, समाज और देश के रक्षण और पालन-पोषण का उत्तरदायित्व है, गृहस्थ उससे बच नहीं सकता और उसे बचना चाहिये भी नहीं। वह यह कह कर छुटकारा नहीं पा सकता कि साधु देश और समाज की कोई व्यवहारिक सेवा

नहीं करते, तो हमें भी उसकी क्या आवश्यकता है ? साधु समाज और देश से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करके एक विशिष्ट जीवन में प्रवेश करता है, परन्तु गृहस्थ ऐसा नहीं करता। यद्यपि साधु का भी किसी सीमा तक समाज के साथ सम्बन्ध रहता है और इस कारण वह भी अपने ढंग से समाज का उपकार करता है।

पानी, पानी ही है ; चाहे वह नदी में हो, कुँआ में हो या घड़े मे भर लिया गया हो; वह प्यास बुझाएगा ही। इसी प्रकार अहिंसा चाहे साधु की हो चाहे श्रावक की हो, वह तो संवर रूप ही है और मोक्ष का ही मार्ग है। इस दृष्टि से साधु और श्रावक का मार्ग परस्पर विरोधी नहीं कहा जा सकता।

इस दृष्टिकोण का अर्थ यह हुआ कि गृहस्थ के पास जितना परिग्रह है, वह परिग्रह ही है और उसके अतिरिक्त परिग्रह का त्याग जो उसने किया है, वह अपरिग्रह है। जहाँ तक उसका संसार से सम्पर्क है, वहां तक हिंसा है और जितनी हिंसा का उसने त्याग किया है, वह अहिंसा है। इस प्रकार गृहस्थ के परिग्रह और अपरिग्रह की सीमाएँ हैं। गृहस्थ जब तक संसार-व्यवहार कर रहा है और गृहस्थी में रह रहा है, तब तक वह परिग्रह से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। वह भिक्षा मांग कर, साधु की तरह तो अपना निर्वाह नही कर सकता। भिक्षा मांग कर अपना जीवन चलाना गृहस्थ के लिए अच्छा नहीं समझा गया है। किसी महान् उच्च साधना में निरत श्रावक इसका

अपवाद हो सकता है, परन्तु साधारण गृहस्थ तो भिक्षा पर अपना निर्वाह नहीं कर सकता। अतएव गृहस्थ के लिए यही आवश्यक समझा गया है कि वह अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन करे और अपने जीवन को अपने आप चलाए! वह अपना भी भरण-पोषण करे और परिवार तथा समाज का भी। उसमें दूसरों को देने के भाव भी होने चाहिए, और शनैः-शनैः इस प्रकार के जितने अधिक भाव उसमें जागते जाएँगे, उसका जीवन उतना ही विशाल और विराट बनता जाएगा। तो, इस रूप में गृहस्थ जो संग्रह करता है, वह केवल उसी के लिए नहीं होता; बल्कि दूसरों के भी काम आता है।

तो, यह तो गृहस्थ के संग्रह किए हुए परिग्रह की बात हुई। किन्तु वह जो नवीन उपार्जन करता है, उसके लिए भी कोई मर्यादा है या नहीं? इस सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र ने तथा दूसरे भी आचार्यों ने कहा है—

न्यायसम्पन्नविभवः।—आचार्य हेमचन्द्र

न्यायोपात्तधनः।—आशाधर

गृहस्थ को सम्पत्ति तो चाहिए, वैभव भी चाहिए, उसके बिना उसका जीवन नहीं चल सकता, किन्तु वह सम्पत्ति और वैभव उसे अन्याय से उपार्जन नहीं करना चाहिए। उसकी सम्पत्ति पर न्याय की छाप लगी होनी चाहिए। उसकी सम्पत्ति पर न्याय की जितनी गहरी छाप लगी होगी, उस सम्पत्ति का ज़हर उतना ही कम हो जायगा। इसके विपरीत जो धन जितने अन्याय और

अत्याचार से प्राप्त किया जायगा, जो पैसा दूसरों के आँसुओं और खून से भीगा हुआ होगा, वह उस धन के ज़हर को बढ़ाएगा और उस धन का वह ज़हर अपने और दूसरों के जीवन को गलाएगा। वह पैसा जहाँ कहीं भी जाएगा, ज़हर ही पैदा करेगा। संसार मे घृणा, क्लेश और द्वेष की आग ही जलाएगा।

इस रूप में हम समझते हैं कि हमारे आचार्यों ने सुन्दर विश्लेषण किया है। वे जितने आदर्शवादी थे, उतने ही यथार्थ-वादी भी। उन्होने यह स्वप्न नही देखा कि गृहस्थ गृहस्थी में तो रहे, खाने-पीने मे तो रहे, परन्तु आवश्यक चीजें मुहय्या न करे। तो जैनधर्म ऐसी ख्याली दुनियाँ मे नही रहा—क्योंकि ख्याली दुनियाँ में रहने वाले कभी जीवन की ऊँचाई को प्राप्त नहीं कर सकते।

जब तक जीवन है और जीवन के मैदान में दौड़ना पड़ता है, तैयारी करनी पड़ती है और संघर्ष करने पड़ते हैं, तो इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि उस संघर्ष और दौड़ में से विवेक न निकल जाय, न्याय न निकल जाय और विचार न निकल जाय। जीवन का संघर्ष अज्ञान के अन्धकार में न किया जाय। गृहस्थ को यह न भूल जाना चाहिए कि मैंने किस तरीके से पैसा पैदा किया है? मेरे पास अन्याय और अत्याचार का तो कोई पैसा नहीं आ रहा है?

रोटी तो साधु को भी चाहिए। जब तक पेट है, तब तक रोटी

की तो आवश्यकता है ही। जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता है। मगर यहाँ भी यही प्रश्न होता है—

कस्सट्ठा केण वा कडं।

—दशवैकालिक, ५,

अर्थात्—यह खाद्य-सामग्री कैसे तैयार की गई है, किसके लिए तैयार की गई और कितनी तैयार की गई है? और इसमें हमारा संकल्प और उद्देश्य तो नहीं रख छोड़ा गया है? यह आहार गृहस्थ ने सहज भाव से अपने लिए बनाया है या दूसरों के लिए बनाया है? साधु गृहस्थ से पूछ कर यह मालूम कर ले और गृहस्थ न बतलावे तो वातावरण से या दूसरे किसी उपाय से जान ले। इतने पर भी यदि उसे संदेह रह जाय और विश्वास न हो कि यह सहज भाव से बनाया गया है, तो साधु उस आहार को ग्रहण न करे। इस प्रकार साधु को भी उद्गम और 'उत्पादन' का विचार करना पड़ता है।

तो जैसे साधु को विचार करना चाहिए, वैसे ही श्रावक को भी विचार करना चाहिए कि यह रोटी कहाँ से आई है, कैसे आई है और किस रूप में आ रही है? यह इस जीवन में प्रकाश दे सकती है या नहीं?

एक श्रावक ने प्रश्न किया था कि धन यदि न्याय से आता है तो वह बुरा कैसे हुआ?

मैंने अपनी पुरानी परम्परा का उल्लेख करते हुए कहा था कि धन दो प्रकार से आया करता है—पुण्यानुबन्धी पुण्य से

और पापानुबन्धी पुण्य से। जब पुण्यानुबन्धी पुण्य से धन आता है तो उसको पाकर धनवान् की सकल वृत्तियाँ अच्छी हो जाती हैं, उसके विचारों और भावनाओं में पवित्रता आ जाती है और उसे उस धन का सदुपयोग करने के लिए विचार बुद्धि और चिन्तन भी मिलते हैं। जब वह उस धन का जनकल्याण के लिए उपयोग करता है तो उसका मन खुशी से नाचने लगता है। वह अवसर की तलाश में रहता है कि जो कुछ पाया है, उस का मैं उपयोग कर लूँ। और जब अवसर मिलता है तो वह भूखे को रोटी और नंगे को कपड़ा देता है और किसी के भी कल्याण के लिए अपनी चीज़ का उपयोग करता है तो आनन्द में विभोर हो जाता है। वह देने से पहले, देते समय और देने के बाद भी आनन्द की अनुभूति करता है। वह जब तक जीवन मे रहेगा, आनन्द की लहर उसके जीवन से बहती ही रहेगी। वह देकर कभी पछतायेगा नहीं।

ऐसा धन पुण्यानुबन्धी पुण्य से आया है और आगे भी पुण्य की खेती बढ़ाता है। यह वह अन्न है जो खाकर ख़त्म नहीं कर दिया गया है, किन्तु पहले पुण्य की खेती से आया है और आगे भी खेत मे फ़सल तैयार करेगा।

पुण्यानुबन्धी पुण्यशाली, आनन्द से आनन्द में और सुख से सुख में जीवन की यात्रा करता है और एक दिन मोक्ष के द्वार पर पहुँच जाता है।

पापानुबन्धी पुण्य की बात इससे विपरीत है। जब तक धन

नहीं आया, तब तक मनुष्य विचार करता है कि धन आये तो यह कर लूँ और वह कर लूँ, और ज्योंही धन आता है कि उसके वे विचार न जाने कहाँ गायब हो जाते हैं। आया हुआ धन उसके सामने अंधकार का विस्तार कर देता है, उसके विचारों पर अंधकार की कालिख पोत देता है। जब दान देने का प्रसंग आता है तो दिल में दर्द होता है और वह सिकुड़ने लगता है। देने से पहले भी और बाद में भी पछताता है। कभी शंका से या लाज से मुट्ठी ढीली करनी पड़े तो उसे उस समय ऐसा अनुभव होता है जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो। यह तो संसार है, मुट्ठी ढीली करनी ही पड़ती है, किन्तु जब उसे ढीली करनी पड़ती है तो पहले भी और बाद में भी वह रोता है और जब लेखा देखता है तब भी रोता है। जिस धन से मनुष्य की ऐसी स्थिति होती है, समझना चाहिए वह धन पापानुबन्धी पुण्य से मिला है।

पुण्यानुबन्धी पुण्य और पापानुबन्धी पुण्य के यह लक्षण आपके सामने हैं। इनके आधार पर आप सोच सकते हैं कि आपने जो धन पाया है, वह पुण्यानुबन्धी पुण्य से पाया है या पापानुबन्धी पुण्य से प्राप्त किया है।

मैं समझता हूँ, जैनदर्शन का प्रत्येक विद्यार्थी मम्मण सेठ से परिचित होगा। फिर भी उसकी कहानी संक्षेप में बतलाए देता हूँ।

राजगृही के मम्मण सेठ के पास ९९ करोड़ का धन था। इतना धन होने पर भी न वह स्वयं खाता, न दूसरों को

खाने देता था। दूसरों की बात जाने दीजिए, वह अपने लड़कों को भी नहीं खाने देता था। कदाचित् लड़को को अच्छा खाते-पीते देख ले तो घर में महाभारत मचा दे! आखिर लड़को ने सोचा—ऐसे कैसे गुज़र होगी? घर मे रहेगे तो खाना-पीना और पहनना भी पड़ेगा! जिन्दगी है तो बिना खाये-पीये कैसे चलेगी?

लड़को ने सेठ से कहा—हमको थोड़ी-थोड़ी पूँजी दे दीजिए, जिससे हम कमाते रहे और अपना जीवन चलाते रहे और इस धन को आप मुर्गी के अंडे की तरह सेते रहिए! आखिर यह भी हमे ही मिलेगा।

सेठ ने कहा—पूँजी तो दे दूँगा। किन्तु ब्याज सहित मूल पूँजी वापिस ले लूँगा।

लड़को ने कहा—अजी, हम तो आपके ही लड़के हैं।

सेठ—लड़के हो, यह तो ठीक है, पर धन को बर्बाद करने के लिये थोड़े ही हो। तुम मेरी मूल रकम ब्याज समेत लौटा देना। उस पूँजी से जो कमाओ वह तुम्हारा है। उसे मैं नहीं माँगूँगा। उसका अपनी मर्जी के अनुसार भोग कर सकते हो।

आखिर लड़कों को यह शर्त मंजूर करनी पड़ी। उन्होने कहा—तो ठीक है, हम परदेश जाकर कमा खाएँगे।

सब ने पूँजी ले ली और परदेश के लिए विदा हो गए।

सब लड़के चले गए तो सेठ ने धन का बैल बनाना शुरू किया! बैल बनाने में उसका सारा धन लग गया। तब उसे

जोड़ी बनाने की सूझी। बिना जोड़ी एक बैल किस काम का! और उसी तरह का दूसरा बैल बनाने के लिए वह अँधेरे-अँधेरे जंगल में जाता, लकड़ियाँ इकट्ठी करता और बेचता था! लकड़ियों से करोड़ों की पूर्ति नहीं हो सकती थी, यह तो मम्मण सेठ भी समझता होगा, परन्तु मोह ही तो ठहरा। आसक्ति बड़ी विचित्र वस्तु है।

राजा श्रेणिक ने मम्मण सेठ की हकीक़त सुनी और भगवान् महावीर से उसके विषय में पूछा। भगवान् ने कहा—मम्मण सेठ पूर्व जन्म में बहुत ग़रीब था। एक बार बिरादरी में भोज हुआ और लड्डू बाँटे गए। इसने लड्डू रख लिए। सोचा—भूख लगेगी तब खाऊँगा। जब वह गाँव के बाहर आया और एक जगह तालाब के किनारे खाने को बैठा, तब उसे एक साधु आता दिखाई दिया। उसके जी में आया—आज अच्छा मौका मिल गया है तो साधु को भी आहार दान दूँ।

यह सोचकर उसने मुनि को निमन्त्रण दिया और बहुत आग्रह किया। मुनि ने कहा—इच्छा है तो थोड़ा-सा दे दो! उसने थोड़ा-सा दे दिया और सन्त लेकर चला गया। बाद में वह खुद खाने को बैठा तो लड्डू बड़ा ही स्वादिष्ट था। तो, लड्डू की उस मिठास ने मुनि को दान देने के उसके रस को बिगाड़ दिया, उसके हर्ष को विषाद के रूप में बदल दिया, उसकी प्रसन्नता को पश्चात्ताप के रूप में पलट दिया! वह सोचने लगा—कहाँ से ये आगए! इन्हें भी आज ही आना था! यह

तो सन्त है और इन्हें तो रोज़-रोज ही लड्डू मिल सकते हैं। मुझे कौन-से रोज़ मिलते हैं। इन्हे भी आज ही आने की सूझी आज तक तो मेरे यहाँ आये नहीं, और आये भी तो आज आए; व्यर्थ ही मैंने लड्डू दे दिया।

इस प्रकार लड्डू देने के लिये वह पश्चात्ताप करने लगा। उसने पापानुबन्धी पुण्य बाँध लिया और उसी का यह परिणाम है कि लक्ष्मी पा करके भी वह सत्कर्मों में ख़र्च नहीं कर सकता है।

यह तो उदाहरण है। आशय यह है कि जब कभी पुण्य किया जाता है और मन में मलीन भाव आ जाते हैं तो अमृत में विष का मिश्रण हो जाता है। यह तो मनोमन्थन की बात है। कोई भी आदमी अपने मन को जाँचे और मन में उत्पन्न होने वाली भावनाओं की जाँच-पड़ताल करे, तो उसे मालूम होगा कि कभी-कभी दोनों प्रकार की भावनाएँ आपस में टकराती हैं। कभी कोई सत्कर्म किया जाता है तो उसे करते समय भाव ऊँचे होते है, किन्तु उसी समय दूसरी बुरी तरँग भी आती है। और दोनों घुल-मिल कर ऐसा रूप धारण कर लेती है कि उसमें पाप और पुण्य की भावनाएँ जाग जाती हैं। और जब भावना मे पाप और पुण्य का मिश्रण होता है तो उसके द्वारा पापानुबन्धी पुण्य का बध हो जाता है।

पापानुबन्धी पुण्य का बध करने वाला मनुष्य आगे चल कर धन के बन्धन मे बँध जाता है और उस धन को पुण्यार्थ व्यय न करके पाप मे ही ख़र्च करता है।

तो, मनुष्य धन पाता है तो उस में सद्भावनाएँ भी जागृत होनी चाहिएँ, जिससे वह अच्छे रूप में उसे खर्च कर सके और उसके जहर को अमृत का रूप प्रदान कर सके।

पुराने आचार्यों की गाथाओं में ऐसी प्रार्थनाएँ भी आती है कि प्रभो! मुझे धन मिले तो उसके साथ उसका सदुपयोग करने की बुद्धि भी मिले। मुझे सम्पत्ति मिले, किन्तु ऐसी सद्भावना भी मिले कि मैं उसका उपयोग कर सकूँ—उसे भले काम में लगा सकूँ। उसका ऐसा उपयोग कर सकूँ कि मेरे जीवन का भी निर्माण हो और समाज तथा परिवार का भी निर्माण हो। भगवन्! ऐसी वृत्ति मुझे देना।

भारतीय ग्रन्थों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं। उनका उद्देश्य यही है, मनुष्य जब तक गृहस्थी में रह रहा है, उसे सम्पत्ति की आवश्यकता रहती ही है, परन्तु जब सम्पत्ति मिले तो उपभोग करने की वृत्ति भी मिलनी चाहिए। प्राप्त सम्पत्ति का सदुपयोग करके जो अपने पथ को प्रशस्त, उज्ज्वल और मंगलमय बना लेता है, जो अपनी सम्पत्ति को अपने जीवन-निर्माण में सहायक बना लेता है, उसी का सम्पत्ति पाना सार्थक है।

अपरिग्रह का आदर्श यही है कि जो त्याग दिया सो त्याग दिया। उसकी आकाँक्षा करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु जो रख लिया गया है, उसका उपयोग किस प्रकार किया जाये—सोचना तो यह है।

देखना होगा कि जो धन रख लिया गया है, वह धनी के

ऊपर सवार है या धनी धन के ऊपर सवार है ? गाड़ी या घोड़ा जो आपने रख छोड़ा है, वह आपकी सवारी के लिए है, अपने ऊपर सवार करने के लिए नहीं है, इसी प्रकार धन भी आपके ऊपर सवार होने के लिए नहीं होना चाहिए। जब तक आपके पास धन-सम्पत्ति है, आपको उस पर सवार होकर जीवन की यात्रा तय करनी है, यह नहीं कि उसे अपने ऊपर सवार करके चलना है।

मतलब यह है कि यदि बुद्धि जागृत हो गई है, शुभ-संकल्प और पवित्र भावना जाग गई है, तो परिग्रह के द्वारा भी सुन्दर भविष्य का निर्माण किया जा सकता है। अगर आपने ऐसा किया तो इसका अर्थ यह है कि आप धन पर सवार हैं और धन आप पर सवार नहीं है।

और परिग्रह को रक्खे रहना, उससे चिपटे रहना, न खुद खाना और न किसी शुभ कर्म मे खर्च करना, यह मूर्च्छा का लक्षण है, आसक्ति है, और यही संसारपरिभ्रमण की जड़ है।

एक व्यक्ति ऐसा है, जिसके पास वस्तु थोड़ी है, फिर भी समय आने पर वह उसका उपयोग करने से नहीं चूकता तो चाहे वह वस्तु कौड़ी की हो या लाख की, अपरिग्रह ही है।

कोई साधु हो या गृहस्थ हो, आवश्यकता दोनों को रहती है। ऐसा तो नहीं है कि मेरे शरीर का वस्त्र देवता द्वारा बनाया हुआ है और आपके वस्त्र जुलाहे ने बनाये हों। कपड़ा तो जुलाहा बुनता है और क्या साधु का और क्या श्रावक का, कपड़ा तो कपड़ा ही है। फिर यह कैसे हो सकता है कि गृहस्थ

के पास रक्खा हुआ कपड़ा तो परिग्रह हो जाय ? और साधु के पास रक्खा हुआ परिग्रह न हो ? साधु परिग्रह की कामना नहीं करता, यह ठीक है, मगर इसीलिए वह अपरिग्रही नहीं कहा जा सकता। रोटी जब तक आपके पास रहे तब तक तो परिग्रह कहलाए और सन्त के पात्र में डालते ही अपरिग्रह हो जाए, यह क्या बात है ? सन्त ने कौन-सा जादू कर दिया कि वह परिग्रह से अपरिग्रह बन गई ?

इधर यह भी नहीं माना जा सकता कि साधु परिग्रह की मर्यादा करता है। साधु तो तीन करण और तीन योग से परिग्रह का त्याग करता है, फिर मर्यादा कैसी ? मर्यादा करे तो फिर श्रावक और साधु में अन्तर भी क्या रहे ? तो प्रश्न होता है—फिर क्या माना जाय ? क्या यह मान लिया जाय कि साधु परिग्रह का त्याग करके भी परिग्रह रखता है ? अगर ऐसा है तो उसका दर्जा आराधक का न होकर विराधक का हो जाता है और एक तरह से वह श्रावक की अपेक्षा भी हीन कोटि में चला जाता है। फिर गृहस्थ भी परिग्रह का त्याग करके भी परिग्रह क्यों न रखने लगें ?

इस बात का निर्णय हम भगवान् महावीर की उस पतित-पावनी वाणी के द्वारा करेंगे, जिसने आज से २५०० वर्ष पूर्व हमारे जीवन के लिए शुभ सन्देश दिया है। भगवान् ने कहा है:—

जं पि वत्थं च पायं वा, कंबलं पायपुच्छणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥

—दशवैकालिक

वस्तु होना एक चीज़ है और परिग्रह की वृत्ति—ममता-मूर्छा रखना दूसरी चीज़ है। शास्त्रकार वस्तुओ को परिग्रह इसलिए कह देते हैं कि उन वस्तुओं पर से ममता—आसक्ति दूर हो जाय। और परिग्रह की वृत्ति या आसक्ति हटा कर ही मनुष्य हल्का बन सकता है।

हमारे पुराने सन्त मक्खियों का दृष्टान्त दिया करते थे। एक मक्खी मिश्री पर बैठी है। वह उसकी मिठास का आनन्द ले रही है। परन्तु ज्योंही हवा का झौका आता है, वह वहाँ बैठी नहीं रहती, झटपट उड़ जाती है। पर शहद की मक्खी, चाहे कितने ही हवा के झौके आएँ, कुछ भी हो जाय, शहद से चिपटी बैठी रहेगी। उसी में फँसी रहेगी। चाहे उसके प्राण ही क्यों न चले जाएँ!

संसार मे रहते हुए मनुष्य को पहली मक्खी की तरह बैठना चाहिए। ऐसा करने से वह तत्काल बन्धनो को तोड़ सकता है।

मुझे एक गृहस्थ की बात याद आ रही है। वह खेतान जो कहलाता था। उसने अपनी बहुत ग़रीबी की हालत में, कलकत्ते में, एक दूकान खोल ली। भाग्य चमका और थोड़े ही वर्षों में उसके वारे-न्यारे हो गए। ख़ूब पैसा कमाया। एक बार उसके गाँव (जन्मभूमि) के लोग गौशाला के निमित्त चंदा करने गये।

गायों की हालत उस समय बहुत ख़राब हो रही थी। गाँव के लोगों ने गौशाला खोलने का विचार किया, परन्तु पैसे के बिना यह काम कैसे हो सकता था? गाँव वाले तो सब वहीं पापड़ बेल रहे थे। उनके पास गौशाला बनाने के लिए पैसे कहाँ थे? अतएव गाँव वालों ने, दिसावर में जाकर व्यापार करने वाले ग्रामवासियों से रुपया लाने का निश्चय किया। वे कलकत्ते में खेतान जी के पास पहुँचे। कहा—देखिए, गाँवों में गायों की हालत बद से बदतर हो रही है। अतएव हमने एक गौशाला खोलने का विचार किया है। उसकी व्यवस्था आपको करनी पड़ेगी।

खेतानजी बोले—हम यहाँ बैठे-बैठे अपने घर की भी व्यवस्था नहीं कर पाते तो गौशाला की व्यवस्था कैसे करेंगे?

गाँव वालों ने कहा—हम तो आपके भरोसे पर ही आए हैं।

खेतान जी—देखो, आप लोग इतनी दूर से मेरे भरोसे आए तो मैं यही कर सकता हूँ कि कुछ रक़म दे दूँ। पर व्यवस्था वगैरह तो मुझसे कुछ हो नहीं सकेगी। पहले आप लोग उस गद्दी से लिखा लाओ, उसके बाद मैं लिख दूँगा।

कलकत्ते में ही उसी गाँव के एक दूसरे सेठ की दूकान और थी। गाँव के लोग वहाँ पहुँचे तो सेठजी ने कह दिया—पहले उन्हीं से लिखा लाओ। वही बड़ी गद्दी है।

बेचारे गाँव वालों ने दो-चार बार चक्कर काटे, परन्तु किसी ने भी रक़म न चढ़ाई। दोनों ओर से वही उत्तर मिलता

था। वे सोचने लगे, ये क्या करेंगे ! वह उस पर और वह उस पर टाल रहा है। गौमाता के नाम पर थोड़ा-बहुत देना है, वह भी नहीं दिया जाता।

फिर भी उनके मन में अभी आशा की क्षीण रेखा थी। वे खेतान सेठ के पास आये और कहने लगे—अब आप जो कुछ देना चाहते हों दे दें, हम तो फिरते-फिरते हैरान हो गए। अब आपसे कुछ नही कहेगे।

खेतान जी के मन में अन्तर्जागरण हुआ। अरे, यह मेरे भरोसे आए हैं। कहाँ तो मैं ग़रीब का लड़का था, कहाँ आज लाखों का कारबार लेकर बैठा हूँ। मेरे घर में क्या था ! कुछ नहीं। फिर भी साहस करके अपने हाथों इतना पैसा कमाया है। पैसा तो हाथ का मैल है। यह अवसर क्या बार-बार हाथ आने वाला है ?

और इसके बाद, सेठजी ने एक धोती, लोटा और डोर हाथ मे लेकर दूकान से नीचे उतरते हुए कहा—लो, मैं यह सारी दूकान तुम्हें समर्पण करता हूँ। मेरे पास क्या था ? आज मैंने काफी कमा लिया है। लोगों में मेरी इज्जत आबरू भी है। मैं कहीं भी दूकान खोल कर बैठूँगा तो कमा-खाऊँगा !

गाँव वाले खेतान की यह उदार वृत्ति देखकर दंग रह गये। सेठ जी उस दूकान से उतर कर फिर नहीं चढ़े। उन्होने दूसरी जगह अपना व्यापार किया।

यह उदाहरण क्या बतलाता है ! यही कि मनुष्य को संसार

में पहिली मक्खी की तरह बैठना चाहिए कि जब कभी ममता छोड़ने का अवसर आए तो छोड़ कर दूर हट जाय।

इन्सान मे अजब शक्ति है। उसमे जब ममत्त्व को तोड़ने की वृत्ति आती है तो एक मिनिट भी नहीं लगती। उस बन्धन को तोड़कर झटपट अलग हो जाता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर परिग्रह पर सीधी चोट नहीं करते, पर परिग्रह की वृत्ति पर सीधा प्रहार करते हैं।

भारतवर्ष में बड़े-बड़े साम्राज्यवादी और चक्रवर्ती आदि आए, परन्तु जब उन्हें परिग्रह छोड़ना हुआ तो एक मिनिट में छोड़ कर अलग हो गए। साँप केंचुली को छोड़ कर जैसे उसकी ओर झाँकता भी नहीं है, उसी तरह उन्होंने अपने वैभव को ठुकरा कर वापिस देखा भी नहीं। वे साधु बन गये। साधु बन कर भी उन्होने वस्त्र और पात्र आदि रक्खे, किन्तु उनकी वृत्ति में उन वस्तुओं पर आसक्ति नहीं थी, ममता नहीं थी, अतएव वह वस्तुएँ परिग्रह रूप भी नहीं थीं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि जितने अंश में ममत्त्व है उतने ही अंशों में परिग्रह है।

एक चिउँटी है। उसके पास शरीर को छोड़ कर और क्या है ? वह शरीर को लेकर चल रही है। उसके पास वस्त्र का एक तार भी नहीं है।—दूसरी तरफ़ एक चक्रवर्ती है। वह लाखों—करोड़ों की सम्पत्ति का मालिक है। मैं पूछता हूँ, परिग्रह किसमें ज्यादा है।

ममत्त्व का त्याग दोनों ने नहीं किया है। चक्रवर्त्ती ने भी

कोई मर्यादा नहीं की है, वस्तुओं को सीमित नहीं किया है, तो दोनो जगह परिग्रह है।

आखिर परिग्रह अव्रत मे ही है। एक भिखारी फटा वस्त्र का टुकड़ा लेकर फिरता है और उसने कोई व्रत-प्रत्याख्यान नहीं लिया है, तो वह परिग्रह के अन्दर है, भले ही उसके पास ज्यादा सामग्री नही है! परन्तु राजा चेटक इतना बड़ा धनी और वैभव का स्वामी होने पर भी अपरिग्रही था। इसका कारण यही था कि उसने श्रावक के व्रत ले लिए थे, वह व्रती था। पर गलियों के भिखारी ने कोई व्रत-नियम नहीं लिया था। अतएव अपरिग्रही राजा चेटक ही ठहरा, भिखारी नहीं। राजा चेटक ने सभी कुछ होते हुए भी परिग्रह की वृति तोड़ दी थी, परन्तु भिखारी, अपने पास कुछ न होते हुए भी परिग्रहवृत्ति को, लालसा को लिए फिर रहा है। अतएव वह अपरिग्रही नहीं कहला सकता।

तात्पर्य यह है कि जहाँ परिग्रह की लालसा है, लोभ है, ममता है और आसक्ति है, वहीं परिग्रह है, चाहे वाह्य वस्तु पास मे हो या न हो। और जहाँ लालसा और ममता नहीं है वहाँ चक्रवर्त्ती की ऋद्धि भी अपरिग्रह है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि साधु वस्त्र-पात्र आदि वाह्य पदार्थ रखते हुए भी परिग्रही नहीं हैं और ज्ञातपुत्र ने मूर्च्छा-आसक्ति को परिग्रह कहा है।

आज विश्व में और विशेषतः इस देश में, भगवान् महावीर के इस अपरिग्रह-व्रत का पालन करने वालों की बहुत आवश्यकता

है। जो धनवान् हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि आखिर वे किस प्रयोजन से और अधिक धन कमा रहे है? वे अधिक धन कमा कर उसका क्या करेंगे? क्या समस्त देश हमारा कुटुम्ब नहीं है? यदि समस्त देश हमारा विशाल कुटुम्ब ही है, और वास्तव में है भी—तो देश के हित के लिए, आवश्यकता पड़ने पर क्या अपना सर्वस्व त्याग देने के लिए तैयार नहीं रहना चाहिए? ऐसा नहीं कि धन कमा कर वह साँप की तरह अकेला ही उस पर बैठ जाय और उसे जरा भी इधर-उधर न होने दे।

परिग्रह की मर्यादा करते समय उसे समझ लेना चाहिए कि मैं भविष्य मे मर्यादा से अधिक किसी भी वस्तु की कामना नहीं करूँगा। मर्यादा करते समय उसके पास जितनी धन-सम्पत्ति है उससे अधिक की भी वह मर्यादा कर सकता है और जितनी है उतनी की भी! मान लीजिए, एक गरीब है और उसे रोटी के भी लाले पड़े हुए हैं। वह मर्यादा करेगा तो यही सोच कर करेगा कि अभी मेरे पास कुछ भी नहीं है, किन्तु सम्भव है भविष्य में सम्पत्ति हो जाय! यही सोच कर वह एक लाख की सम्पत्ति की मर्यादा करता है और संकल्प कर लेता है कि एक लाख से अधिक सम्पत्ति की मैं इच्छा नहीं करूँगा। तो वह अपनी सीमारहित कामनाओं को सीमित करता है और वासनाओं के समुद्र में से एक बूँद के बराबर वासना रख छोड़ता है। दुनियाँ के अपरिमित धन में से अपने निर्वाह के लिए परिमित धन की ही मर्यादा करता है और शेष धन के प्रति ममत्वहीन

बन जाता है। उस शेष धन की अपेक्षा, जिसकी ममता का उसने त्याग किया है, वह अपरिग्रही है।

किन्तु एक धनी व्यक्ति है और उसके पास करोड़ो की सम्पत्ति है। वह परिग्रह की मर्यादा करते समय एक अरब की मर्यादा करे तो यह कोई सिद्धान्त नहीं है। ऐसा करने से इच्छापरिमाण-व्रत के शब्दों का पालन भले हो, पर व्रत के मूल उद्देश्य का पालन नहीं होता—क्योंकि जहाँ तक जीवन-निर्वाह का प्रश्न है, उसके लिए करोड़ों की सम्पत्ति भी अधिक और अनावश्यक है; फिर वह उसे और क्यों बढ़ाना चाहता है ? अगर वह बढ़ाना चाहता है तो उसकी इच्छा पर ब्रेक कहाँ लगा है ? दरिद्र की बात तो समझ में आ सकती है, परन्तु इस धनी की बात समझ में नहीं आती।

आखिर व्रती, और अव्रती में कुछ अन्तर होना चाहिए और वह सकारण होना चाहिए। व्रत लेने से पहले मनुष्य में जितनी तृष्णा, लालसा और ममता थी और धन प्राप्ति के लिए हृदय मे व्याकुलता थी, वह व्रत लेने के बाद कम होनी चाहिए। अगर वह कम नहीं हुई है और ज्यों की त्यो बनी हुई है तो व्रत लेने का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ है। करोड़ों की सम्पत्ति होने पर भी और इच्छा परिमाण-व्रत लेकर भी जो रात-दिन हाय पैसा, हाय पैसा, किया करता है और अरबपति बनने के लिए मरा जा रहा है ; कहना चाहिए कि उसने इच्छापरिमाण व्रत का रस नहीं चखा, उसके माधुर्य का रसास्वादन नहीं किया। उसके

अन्तर्जीवन पर उस व्रत का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह अब भी परिग्रह को विष नहीं, अमृत समझ रहा है; क्योंकि जीवन निर्वाह के लिए और संचय की आवश्यकता न होने पर भी वह संचय में निरत रहता है।

आशय यह है कि जिसने परिग्रह को पाप का मूल समझ लिया है, जो परिग्रह को इस जन्म में भी व्याकुलता और अशान्ति का कारण समझ चुका है, और परलोक में भी अहितकर और अकल्याणकर जान चुका है—वह अनावश्यक संचय के लिए कदापि प्रवृत नहीं होगा। और यदि प्रवृत्त होता है तो मानना पड़ेगा कि वास्तव में उसने परिग्रह के दोषों को नहीं समझा है और वह झूटमूठ ही व्रती श्रावक की कोटि में अपना नाम दर्ज कराने के लिए व्रत लेने का दंभ कर रहा है।

अपरिग्रह व्रत का आगे जो फल होगा सो तो होगा ही, परन्तु इसी जन्म में उसका महान् फल मिल जाना चाहिए। व्रत अंगीकार करते ही अन्दर में जलने वाली तृष्णा की आग कम हो जानी चाहिए, निस्पृहभाव की वृद्धि होनी चाहिए और जीवन मे धन के प्रति स्निग्धता कम और रूक्षता अधिक होती जानी चाहिए। शान्ति, निराकुलता और तृप्ति का अनिर्वचनीय आनन्द बढ़ता जाना चाहिए। इसी मे इच्छापरिमाण व्रत की सार्थकता है। यही इस व्रत का महान् उद्देश्य है। एक आचार्य कहते है—

ससारमूलमारम्भास्तेषां हेतुः परिग्रहः।
तस्मादुपासकः कुर्यादल्पमल्पं परिग्रहे ॥

आरम्भ से जन्म-मरण होते है और आरम्भ का हेतु परिग्रह है। परिग्रह के लिए ही मनुष्य नाना प्रकार के पाप-कर्मों में प्रवृत होते हैं। अतएव जो उपासक बना है—श्रावक बना है और जिसने इच्छापरिमाण व्रत अंगीकार किया है, उसे परिग्रह को क्रमशः घटाते जाना चाहिए।

कितनी साफ दृष्टि है! व्रत लेने के पश्चात् परिग्रह घटना चाहिए, बढ़ने का तो प्रश्न ही नहीं है। जो परिग्रह को पापमूल और अनर्थकर समझ लेगा, वह उससे दूर ही भागने का प्रयत्न करेगा। अगर पारिवारिक आवश्यकताएँ उसे बाधित करेंगी तो भी वह अनावश्यक परिग्रह से तो बचता ही रहेगा। उसके मन मे धन की तृष्णा नहीं होगी। वह धन से प्रेम नहीं करेगा, भले ही कटु औषध के समान उसका सेवन करना पड़े। और—

चित्तेऽन्तर्ग्रन्थगहने बहिर्निर्ग्रन्थता वृथा।

यदि चित्त में से परिग्रह सम्बन्धी आसक्ति न निकली या कम न हुई और वह ज्यों की त्यो बनी रही तो फिर ऊपर से अपरिग्रह व्रत या परिग्रहपरिमाण व्रत को अंगीकार कर लेना भी कुछ अर्थ नहीं रखता।

ऐसा सोचकर, जिन्हें वैभव प्राप्त है, उन्हें अपनी इच्छाओं पर ब्रेक लगाना चाहिए और जिनके पास कुछ नहीं है, उन्हें अपना जीवन चलाने के लिए कुछ मर्यादा करके शेष पर ब्रेक लगा लेना चाहिए। जैनधर्म तो अनेकान्तवाद पर चलता है। उसके यहाँ एकान्त नही है। जिन्हें सुखमय जीवन व्यतीत करना हो

और स्वर्गीय सुखों का झरना यहीं बहाना हो, उन्हे जैनधर्म के अपरिग्रहवाद की पगडंडी पर चलने का प्रयास करना चाहिए।

ब्यावर
२०—११—५०

आसक्ति परिग्रह है

जो साधना अन्तर से उद्भूत होती है और जीवन का अंग बन जाती है, वह शक्ति प्रदान करती है, जीवन को प्रगति की ओर ले जाती है; किन्तु जो साधना ऊपर से लादी गई है, वह जीवन का बोझ बन जाती है। उससे जीवन पनपता नहीं, बढ़ता नहीं; बल्कि उसकी प्रगति रुक जाती है।

इस तथ्य को ध्यान में रख कर कोई भी साधक जब साधना के लिये उद्यत हो तो उसे अपनी आन्तरिक तैयारी का विचार कर लेना चाहिए। और इस आन्तरिक तैयारी के अनुसार ही साधना के पथ पर अग्रसर होना चाहिए। इस रूप में भगवान् महावीर की साधना दो रूप से बही है और उस पर साधक अपनी शक्ति के अनुसार चला है।

जो साधक पूर्ण साधना के भार को उठा सकता है और उस भार को उठा कर गड़बड़ाता नहीं है, उस साधक के लिए अपूर्ण साधना का कोई अर्थ नहीं है। वह पूर्ण साधना के पथ पर चलता है और ऐसा साधक साधु कहलाता है। और जो साधक अपनी समस्याओं में उलझा हुआ है, परिस्थितियो के कारण पूरे वज़न को नहीं उठा सकता है, वह श्रमिक साधना के पथ का अवलम्बन करता है। वह साधक श्रावक कहलाता है।

यद्यपि साधक श्रमिक साधना के पथ पर चल रहा है, परन्तु उसका लक्ष्य तो वही है। श्रमिक साधना करता हुआ भी वह पूर्ण साधना की ओर बढ़ता है। श्रावक आनन्द ने श्रमिक साधना का पथ ग्रहण किया और उसके परिग्रहपरिमाण-व्रत का ज़िक्र चल रहा है।

परिग्रह की चर्चा के सिलसिले में हमें विचार करना है कि वास्तव में परिग्रह अपने आपमें क्या है? जो वस्तु प्राप्त है वही परिग्रह होती है या जो नहीं प्राप्त है वह भी परिग्रह हो सकती है? अर्थात् मनुष्य को जो चीज़ मिल गई है, जो उसके नियन्त्रण या अधिकार में है, क्या उसी को परिग्रह माना जाय? या जो चीजें मिली नहीं हैं और जो सुख के साधन संसार में फैले हुए हैं, उन्हें भी परिग्रह कहा जा सकता है?

इस प्रश्न के उत्तर में जैनधर्म ने और उसके अन्य साथियों ने भी कहा है कि केवल प्राप्त वस्तुओं का संग्रह ही परिग्रह नहीं है, किन्तु जो अप्राप्त हैं, यानी प्राप्त नहीं की गई हैं, पर उनके

लिए तमन्नाएँ हैं, लालसाएँ हैं—वे भी परिग्रह हैं। इस प्रकार प्राप्त वस्तु भी परिग्रह है और जिनकी कामना की जा रही है वह अप्राप्त वस्तुएँ भी परिग्रह है।

सिद्धान्त के रूप मे यही आदर्श है। यहाँ प्रश्न उठता है कि आखिर ऐसा क्यो है? जो वस्तु प्राप्त को जा चुकी है, उसके परिग्रह होने में तो कोई असंगति नही है। किन्तु जो मिली नही है, या प्राप्त नही है, उसे परिग्रह कैसे कहा जा सकता है? अगर अप्राप्त वस्तु को भी परिग्रह मान लिया जाता है तो फिर श्रावक के परिग्रह त्याग का अर्थ ही क्या है? आनन्द ने परिग्रह का त्याग किया है तो क्या किया है? उसके पास जो कुछ था सब का सब उसने रख लिया है। अपनी सम्पत्ति में से कुछ भी नहीं छोड़ा है। एक कौड़ी का भी त्याग नहीं किया है। भगवान् महावीर ने भी उससे नहीं कहा कि—अरे, तेरे पास बहुत है तो उसमे से कुछ छोड़ दे—त्याग दे!

और यह तो मै पहले ही कह चुका हूँ कि जैनधर्म इच्छा-प्रधान धर्म है। वह साधक के दिल को प्रेरित करता है, उत्तेजित करता है, और उसमें जागृति उत्पन्न करता है। वह रोशनी पैदा करके अन्धकार को दूर कर देता है। तो, उसके बाद साधक जितनी तैयारी कर चुका है और उसका मन जितना आगे पहुँच चुका है, वह अपने आपको खोल देता है। और वह जितना ही अपने आपको खोलता है, उतना ही ऊपर उठता है।

भगवान् महावीर ऐसे प्रसंगों पर यही कहा करते थे—

जहां सुहं देवाणुप्पिया :
मा पडिबंधं करेह ।

अर्थात् देवों के प्यारे! जिसमें तुम्हें सुख उपजे, वैसा करो; और वैसा करने में विलम्ब मत करो।

तुम्हारा मन गति करने को तैयार हो गया है और रसायन बनाने का समय आ गया है तो फिर देर काहे की! फिर देर की, तो संभव है, ऐसा कोई आदमी मिल जाय जो उस मन को बिखेर दे और पीछे हटा दे! अतएव जिस सत्कर्म के लिए तुम्हारे हृदय में प्रेरणा जागी है, उसे झटपट कर लेना ही उचित है। लोक में भी 'शुभस्य शीघ्रम्' वाली उक्ति प्रचलित है।

यही सिद्धान्त का आदर्श है। इस रूप में हम देखते हैं कि अपार सम्पत्ति होने पर भी भगवान् ने आनन्द से यह नहीं कहा कि इसमें से ज़रा कम करो। खाने-पीने की चीज़ें हैं तो क्या, गायें हैं तो क्या और नकद-नारायण हैं तो क्या, आनन्द के पास जो कुछ भी था, वह सब उसने रख लिया। भगवान् ने उसमें से कम करने के लिए आनन्द पर तनिक भी दबाव नहीं डाला।

मैं समझता हूँ, धर्म के लिए कोई दबाव डालने की आवश्यकता नहीं है। कौन आदमी कितना दान करता है या तपस्या करता है या दूसरी साधनाएं करता है, यह उसकी इच्छा पर निर्भर होना चाहिए। वह जिस रूप में तयारी करके आया है, उतनी ही सिद्धि जागेगी। तुम्हारे अन्दर शक्ति है, तुम उसके

मन को बदल सकते हो, उसका विकास कर सकते हो और यह सब उपदेश के रूप में ही कर सकते हो, दबाव से नहीं। दबाव का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है।

और जब से दबाव के साथ धर्म का सम्बन्ध जोड़ा गया है, लोगो के दिलों में धर्म के प्रति आस्था कम हो गई है। और धर्म भी प्रकाश-हीन सा हो गया है। तभी से इन्सान उसको वज़न के रूप मे ढोता है और वज़न के रूप में ढोता है तो धर्म बोझिल हो गया है।

जो धर्म बिना मन के किया जाता है, लज्जा तथा दबाव के कारण किया जाता है; सारी ज़िन्दगी ढोने के बाद भी वह इन्सान के मन में कोई उल्लास या प्रकाश पैदा नहीं कर सकता। यही कारण है कि आज के जितने भी धर्म, परम्पराएँ—और पंथ हैं, उन सब के क्रियाकाण्ड निस्तेज हो गए हैं और वे मानवजाति के अभ्युदय के उतने सशक्त साधन नहीं रहे हैं, जितनी उनसे आशा की जाती है। उनकी इस निस्तेजता में दबाव का भी हाथ है।

हाँ, तो भगवान् महावीर ने आनन्द पर कोई दबाव नहीं डाला कि वह अपनी प्राप्त सामग्री या सम्पत्ति में से किंचित् कम कर दे। और आनन्द के पास जितनी वस्तुएँ थीं, उसने सब रख लीं और सिर्फ अप्राप्त वस्तुओं का त्याग किया। अब प्रश्न यह है कि जो चीज प्राप्त ही नहीं थी, उसका त्याग किया तो क्या त्याग किया? उस त्याग का अर्थ ही क्या है?

लेकिन आनन्द ने ऐसा ही त्याग किया है। और वह कोई साधारण श्रावक नहीं था। उसकी मुख्य दस श्रावकों में गणना की गई है। इसके अतिरिक्त जिनके समक्ष त्याग किया गया है, वह भी कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे। साक्षात् महाप्रभु महावीर के समक्ष यह त्याग किया गया है। अतएव यह तो असंदिग्ध है कि आनन्द का त्याग कोई ढोंग नहीं है, दंभ नहीं है, कोई फ़रेब नहीं है। आनन्द ने जो त्याग किया, उससे अपरिग्रह आया है, तो हमें अब इसी रोशनी में सोचना है कि वास्तव मे परिग्रह क्या है? वस्तु परिग्रह है या वस्तु की आकाँक्षा परिग्रह है?

सूत्र के शब्दों पर ध्यान दिया जाय तो वहाँ एक महत्त्वपूर्ण और ध्यान आकर्षित करने वाला शब्द हमें मिलता है। शास्त्र मे कहा गया है—'इच्छापरिमाणं करेइ।' अर्थात् आनन्द इच्छा का परिमाण करता है। यहाँ वस्तुओं के परिमाण की बात नहीं, इच्छाओं के परिमाण की बात आई है।

सर्वप्रथम मनुष्य के मन में इच्छा जागृत होती है, संकल्प उठता है और उसके अनुसार वह दौड़ लगाता है और वस्तुओं का संग्रह करता है। अर्थात् पहले इच्छा होती है, फिर प्रयत्न होता है और उसके बाद वस्तुओ को इकट्ठा करने का प्रश्न आता है।

इसका अर्थ यह है कि यदि इच्छा ही न रहे तो प्रयत्न भी नहीं होगा और जब प्रयत्न न होगा तो वस्तुओं को इकट्ठा करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा। इस प्रकार सब से बड़ा और

मूलभूत परिग्रह इच्छा ही है। और जहाँ इच्छा है, वहाँ प्राप्त और अप्राप्त-सभी वस्तुएँ परिग्रह ही हैं। कहा भी है:—

मूर्छाछन्नधियां सर्वं, जगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छया रहितानां तु, जगदेवापरिग्रहः॥

जिसकी मनोभावना आसक्ति से ग्रस्त है, उसके लिए सारा संसार ही परिग्रह है। और जो मूर्छा-ममता एवं आसक्ति से रहित हैं, उनके अधीन यदि सारा जगत् भी हो, तो भी वह परिग्रह नहीं है।

एक भिखारी है और उसके पास कोई खास चीज नहीं है, किन्तु उसने अगर इच्छाओ को नहीं छोड़ा है, परिग्रह की वृत्ति को नहीं त्यागा है, इसके विपरीत वह सारे संसार की चीजों को चाहता है, तो सारा संसार ही उसके लिए परिग्रह है। वह इन्द्र नहीं है; चक्रवर्त्ती सम्राट भो नहीं है, फिर भी उनसे कम परिग्रही नहीं है। सम्भव है, उसकी एक भी स्त्री न हो, लेकिन उसने वासना का परित्याग नहीं किया है तो वह संसार की स्त्रियों का परिग्रही है।

यही सिद्धान्त की बात है। इस प्रश्न को दार्शनिक कसौटी पर कस कर देखते हैं और ऊपर ही ऊपर तैरते रहे तो जीवन का आनन्द जिस गहराई में है, वह गहराई नहीं मिलेगी।

तो भगवान् महावीर का महत्त्वपूर्ण सन्देश यही आया कि सब से पहिले इच्छाओं को कम और सीमित करना चाहिए। यही कारण है कि शास्त्र के मूल पाठ में इच्छा के परिमाण की बात आई है। इच्छा का परिमाण कर लेने से वस्तु का परिमाण

अपने आप हो जाता है।

इस प्रकार अप्राप्त वस्तु नहीं, बल्कि अप्राप्त वस्तु की इच्छा परिग्रह है–तो प्राप्त वस्तु के विषय मे भी यही बात समझनी चाहिए। अर्थात् प्राप्त वस्तु की इच्छा ही परिग्रह है। इच्छा का अर्थ यहाँ पर आसक्ति से है। प्राप्त वस्तुओं में आसक्ति न होना अपरिग्रह है। यदि यह अर्थ न लिया जाय और परिग्रह का अर्थ वस्तु लिया जाय तो आनन्द के परिग्रह छोड़ने का कुछ अर्थ ही नही रहता, क्योंकि उसने किसी भी प्राप्त वस्तु को नहीं छोड़ा है। फिर भी उसने श्रावक के अनुरूप परिग्रह त्याग किया है तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि उसने इच्छा या आसक्ति का त्याग किया है इसलिये इच्छा ही वास्तव में परिग्रह है।

परिग्रह होने और न होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वस्तु है या नहीं है; किन्तु इच्छा का होना और न होना आवश्यक है। अर्थात् जहाँ इच्छा है वहाँ परिग्रह है और जहाँ इच्छा का त्याग है वहाँ परिग्रह का भी त्याग है।

कल एक प्रश्न उपस्थित किया गया था। भिक्षु ज्ञान प्राप्ति के लिए पुस्तकें रखता है, भिक्षा के लिए पात्र रखता है और पात्र में आहार-पानी इकट्ठा कर लेता है; परिवार के रूप में शिष्य रख लेता है और जीवन के साधन वस्त्र, ओघा, पूँजनी आदि उपकरण भी रखता है। इनमें से कुछ चीजें धर्म के लिए और कुछ ज़िन्दगी के लिए आवश्यक हैं। अब प्रश्न यह है कि इन सब चीज़ों के रहते हुए भिक्षु परिग्रही है या नहीं? यदि वस्तु को

परिग्रह मान लेंगे तो भिक्षु को परिग्रही मानना पड़ेगा और परिग्रही माने बिना बच नहीं सकते हैं।

हमें सिद्धान्त के रूप में और विचारो के रूप मे विचार करना है; सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से विचार नहीं करना है। अगर सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से विचार करेंगे तो बड़ी ग़लतफ़हमी में पड़ जायेंगे। अगर आपकी मान्यता के पीछे कोई सुदृढ़ आधार नहीं है, कोई तर्क और युक्ति नहीं है। आप भले ही उसे मानते रहें, संसार मानने को तैयार नहीं होगा।

हाँ, तो साधु वस्तु रखता है, किन्तु परिग्रही नहीं है, ऐसी हमारी मान्यता है और संसार भर के सभी दर्शनों के साधुओं के विषय में उन-उन दर्शनो की ऐसी ही मान्यता है। इसका अर्थ यह है कि साधु वस्तुएँ तो रखता है, किन्तु परिग्रह नहीं रखता है।

यह बात मै उन साधुओं के विषय मे कह रहा हूँ जो वास्तव मे साधु हैं और जो अपने धर्म के अनुसार चल रहे हैं। मैं केवल नामधारी साधुओं की वकालत नही कर रहा हूँ। हमें किसी वर्ग-विशेष या व्यक्ति-विशेष की वकालत करना भी नहीं है, करनी है तो सिर्फ सिद्धान्त की वकालत करनी है।

तो साधु के पास वस्तुएँ होने पर भी वह अपरिग्रही है। आपके पास लड़का है तो वह परिग्रह है; किन्तु साधु के पास शिष्य है तो वह परिग्रह नहीं है। भगवान् महावीर के पास चौदह हज़ार साधुओं और छत्तीस हज़ार साध्वियो का परिवार था; किन्तु वह बृहत् परिवार परिग्रह नहीं कहलाया और आपके पास

दो तीन पुत्र हो गये तो वह परिग्रह का बढ़ना कहलाता है। हमें इसी मुद्दे पर विचार करना है। आखिर बात क्या है ?

आपके जात-पाँत हैं और वह परिग्रह है और हमारे गच्छ है, सम्प्रदाय है, किन्तु वह परिग्रह नहीं है।

तो अर्थ यह निकला कि वस्तु हो या न हो, यह मुख्य बात नहीं है; मुख्य बात ममता और आसक्ति का होना और न होना ही है। उपकरण, शिष्य और गच्छ होने पर भी साधु केवल ममत्व के अभाव के कारण अपरिग्रही होता है। और यदि किसी साधु में इनके प्रति ममता है, आसक्ति है, तो फिर वह अपरिग्रही नहीं कहला सकता, चाहे उसका वेष कुछ भी क्यों न हो।

और किसी के पास वस्तु नहीं है, किन्तु वस्तु की इच्छा है, लालसा है और उसको प्राप्त करने के लिए गंभीर भाव से तमन्नाएँ जाग रही हैं तो समझ लीजिए कि वह परिग्रह के दलदल में फँसा हुआ है।

एक बार हम एक गाँव में पहुँचे। वहाँ हमारे प्रति कोई श्रद्धालु नहीं था। अतएव हमें ठहरने के लिए गांव में कोई जगह नहीं मिली। बड़ी मुश्किल से एक टूटा-फूटा शिवालय का खँडहर मिला और उसमें हम ठहर गये। वहाँ चार यात्री और भी पड़े हुए थे। हम शाम को पहुँचे थे और वे पहले से ठहरे हुए थे।

वहां जो ठहरे हुए थे, उनमें से दो एक ही स्थान के थे और वे किसी काम से बाहर गये थे। उनमें से एक पहले आगया और आकर उसने देखा कि कोई उसकी चीजें उठा ले गया है! आते

ही उसकी निगाह अपनी चीज़ो पर पड़ी और जब चीज़ें दिखाई न दीं तो वह समझ गया कि कोई उठा ले गया है; वह एकदम बड़ा निराश और हताश हो गया और गाँव वालो को हज़ार-हज़ार गालियाँ देने लगा। कहने लगा—देना तो दूर रहा, उलटा हमारा ही सामान उड़ा ले गये।

वह रंज मे तो था ही, जब उसका साथी आया तो उसे देख कर उसका रंज और बढ़ गया और वह रोने लगा। उसने कहा—इस गाँव मे आकर तो तक़दीर ही फूट गई! कोई पापी कपड़े-लत्ते, बर्तन-भांड़े सब उड़ा ले गया!

उसके नये आये साथी ने कहा—वही आदमी, जो यहाँ बैठा हुआ था, ले गया होगा। पर उसका पता लगना कठिन है। कौन जाने वह कौन था और कहाँ गया है? खर होगा कोई! सामान ले गया तो ले गया, भाग्य तो नही ले गया। इस प्रकार कह कर उसने अपने शोकग्रस्त साथी को सान्त्वना दी।

यह बातचीत मैंने सुनी और सोचा—सामान दोनों का था, मगर उसके चोरी मे चले जाने पर एक रोता है और दूसरा उसे सान्त्वना देता है। हानि दोनों की समान हुई है, किन्तु एक व्यथित हो रहा है और दूसरा कहता है—हमारा भाग्य तो नहीं चला गया है और चोर चोर ही रहेगा और साहूकार साहूकार ही रहेगा। यह कहते हुए वह मुस्करा रहा है!

मैंने सोचा—इसने बड़ा सुन्दर सिद्धान्त बना लिया है।

महेन्द्रगढ़ (पटियाला) में एक धनी मानी वेदान्ती सज्जन

हमारे परिचय में आये। वे वेदान्त और जैनदर्शन आदि की चर्चाएँ किया करते थे। पहले तो साधुओं के पास उनका आना-जाना नहीं था, किन्तु हम पहुँचे तो वह आने लगे। उनके इकलौता लड़का था और वे गाँव के मालिक थे। उस एक लड़के पर ही उनका सारा दारोमदार था। वह लड़का बीमार पड़ा तो वह उसका इलाज कराने के लिए बम्बई और कलकत्ता आदि कई जगह गये। पानी की तरह रुपया बहाया। यह हाल देख लोग टीकाटिप्पणी करने लगे। कहने लगे,—वेदान्ती जी, क्या यही वेदान्त का स्वरूप है? मैंने उनसे कहा—भाई, संसार में बैठे हैं तो कर्त्तव्य करना ही पड़ता है। कोई अपने लड़के को योंही कैसे मर जाने देगा? यह तो संसार का व्यवहार है।

आख़िर लड़का बच नहीं सका। बहुत प्रयत्न करने पर भी मर गया। वेदान्ती बड़े आदमी थे। गाँव वाले उनके यहाँ पहुँचे और बड़ा ग़मगीन चेहरा बना कर पहुँचे। बोले—पण्डितजी, बड़ा अनर्थ हो गया। आपके साथ बहुत बुरी बीती। एक ही लड़का था और वह भी नहीं रहा।

इस प्रकार सान्त्वना देने वाले उन्हें रंज पैदा करने लगे—किन्तु वह स्वयं उन्हें सान्त्वना देने लगे—भैया! हो क्या गया, जब तक उसका हमारे साथ सम्बन्ध था, रहा, और जब सम्बन्ध टूटा तो टूट गया। जो होना था, हो गया। आदमी क्या करे? आदमी के हाथ में क्या है? जब तक हमारे पास था, सब कुछ किया। बचाने की कोशिश की। कुछ उठा नहीं रक्खा।

इतने पर भी हाथ से निकल गया तो रोने से क्या होगा ?

और आश्चर्य के साथ लोगों ने देखा कि उनकी आँखों से एक भी आँसू नहीं निकला ।

आगरा के रतनलालजी को हम जानते हैं। उनका एक बड़ा होनहार लड़का था, कालेज में पढ़ता था। एक दिन वह यमुना में तैरने गया। छलाँग लगाई और तैरता रहा। न मालूम क्या हुआ कि तैरते-तैरते डूब गया। खबर लगी और निकाल कर घर लाया गया। उस समय उसकी मामूली सी साँस चल रही थी। तो आशा के बल पर हज़ारों रुपये खर्च कर दिए गये, यह सोच कर कि शायद लड़का बच जाय। उस समय वे बूढ़े भी नहीं थे और कोई बड़े दार्शनिक भी नहीं । किन्तु जब लड़का मर गया और नगर के लोग उनके यहां गये—तो लौट आकर उन्होंने कहा—हमने अपने जीवन में एक भी ऐसा आदमी नहीं देखा, जो लम्बा-चौड़ा कारबार करता हो और अपने लड़के को विदेशों मे भेजने का इरादा कर रहा हो, किन्तु अचानक उसके मर जाने पर एक भी आँसू न बहाये। वास्तव में उन्होंने एक भी आँसू न बहाया—अपने होनहार नौजवान लड़के की मौत पर उन्होने कहा—आने वाले को तो जाना ही होगा। मिलने वालों को बिछुड़ना ही होगा। मैं पहले चला जाता या वह पहले चला गया। वह पहले चला गया तो अपना वश ही क्या है।

उन्होंने उसकी यादगार के रूप में एक लाईब्रेरी क़ायम की और उसे अच्छी सम्पत्ति भेंट कर दी।

तो सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण प्रश्न यही है कि मनुष्य के पास जो कुछ है, उस पर भी उसकी आसक्ति कम से कम हो जाय। और आसक्ति जितनी ही कम होती जायगी, परिग्रह का अंश कम होता जायगा। इस प्रकार परिग्रह के रहते भी अपरिग्रही बनना एक उच्च श्रेणी की कला है और उस कला को कोई बड़ा कलाकार ही प्राप्त कर पाता है। इस कला को प्राप्त करने के लिए न गम्भीर शास्त्रों के ज्ञान की आवश्यकता है और न किसी विशिष्ट क्रियाकाण्ड की! इसके लिए तो उस प्रकार का जीवन बनाने की ही आवश्यकता होती है। अपनी मनोवृत्ति का निर्माण करने से यह कला हस्तगत हो जाती है। इस कला को जो हस्तगत कर लेगा, वह संसार में किसी भी परिस्थिति में, दारुण से दारुण प्रसंग पर भी नहीं रोएगा। उसके पास हज़ारों लाखों आएँगे और जाएँगे, परिवार घटेगा और बढ़ेगा और उथलपुथल होगी पर वह प्रत्येक अवसर पर अलिप्त रहेगा। सुख मे मग्न होकर फूलेगा नहीं और दुख में मुरझाएगा नहीं।

कोई भी मनुष्य संसार का ख़ुदा बन कर नहीं बैठ सकता। मनुष्य तो पामर प्राणी है। मिट्टी का पुतला है और धीमी-धीमी होने वाली हृदय की धड़कन पर उसकी ज़िन्दगी निर्भर है। उसकी अपनी ज़िन्दगी का भी क्या भरोसा है? अभी है और अभी नहीं है। ऐसी स्थिति में दूसरी चीज़ों पर कैसी ममता? कैसी आसक्ति? वह तो आएँगी भी और जाएँगी भी। आने पर जो हँसेगा, जाने पर उसे रोना पड़ेगा। अतएव जो आने पर हर्ष और जाने

पर विषाद नहीं करता, वही जीवन की कला को प्राप्त कर सकता है। जिसके हृदय में आसक्ति नहीं है, तृष्णा नहीं है, राग नहीं है, वह प्रत्येक परिस्थिति में समभाव में रहेगा और तब कोई भी दु:ख उसे स्पर्श नहीं कर सकेगा। समभाव के वज्रकवच को धारण कर लेने वाले पर दुःखमय परिस्थिति का कुछ भी असर नही पड़ता।

इसके विपरीत जिस मनुष्य के जीवन पर इच्छा और आसक्ति ने कब्ज़ा जमा रक्खा है, उसका जीवन शान्तिमय और खुलासा नहीं बन सकेगा। वह क़दम-क़दम पर रोता हुआ और झींकता हुआ चलेगा और सिद्धान्त को हत्या करते हुए चलेगा। वह जीवन में खड़ा नहीं रह सकेगा कि मुझे कोई अन्याय और अत्याचार करना है तो फैसला करूँ और सोचूँ। उसके सामने यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा। वह किसी भी अन्याय और अत्याचार के लिए नहीं झिझकेगा और कुछ भी करने से नहीं हिचकेगा।

तो अभिप्राय यह है कि परिग्रह को इच्छा के रूप में समझना चाहिए। तमन्ना और लालसा के रूप में समझना चाहिए। और जब ऐसा है तो उसे छोड़ देने के बाद भी उसके लिए यदि लालसा रख छोड़ी है तो वह परिग्रह ही है। बाहर से और ऊपर से वस्तु का त्याग कर देने पर भी अगर उसकी लालसा का त्याग नहीं हुआ और आसक्ति मन में रह गई तो भगवान् महावीर का सन्देश है कि वहां पर भी परिग्रह है।

वस्तु त्याग दी है, किन्तु तद्विषयक वासना बनी हुई है; रस नहीं निकला है, तो कुछ नहीं बना है। जब तक रस न निकल जाय, कोई चीज़ पैदा होने वाली नहीं है।

एक बहुत पुरानी घटना है। किसी राजकुमार ने दीक्षा ले ली और सब कुछ छोड़ दिया। अपने विपुल वैभव को त्याग कर वह साधु बन गया। लोग उसके इस त्याग की प्रशंसा करने लगे। तब राजकुमार ने कहा—भाई, क्या कह रहे हो! मैंने क्या छोड़ा है!

लोगों ने कहा—आपने बहुत बड़ा त्याग किया है। इतना महान् त्याग कौन कर सकता है! दुनिया तो एक-एक पैसे के लिए मरती है और उसे पाकर छाती से चिपटा लेती है। आपने इतना बड़ा वैभव त्याग दिया है और फिर कहते हैं कि मैंने त्यागा ही क्या है? यह तो आपकी और भी बड़ी महिमा है!

तब राजकुमार ने कहा—इसमें मेरी कोई महत्ता नहीं है। किसी के पास ज़हर की एक छोटी-सी पुड़िया है और दूसरे के पास ज़हर की बोरी भरी पड़ी है। दोनों को पता नहीं था कि यह ज़हर है और वे उसे सँभाले रक्खे रहे। जब उन्होंने समझा कि जिसे हम अमृत समझ कर सहेज रहे हैं, वह वास्तव में अमृत नहीं, विष है, तब क्या वे उसे त्याग करने में देर करेंगे? पुड़िया वाला पुड़िया को फैंक देगा और बोरी वाला बोरी को त्याग देगा। अब लोग कहें कि बोरी वाले ने बड़ा भारी त्याग किया है तो वह त्याग काहे का? पुड़िया ज़हर की थी तो बोरी भी

ज़हर की ही थी। उसे छोड़ा तो क्या बड़ी चीज़ छोड़ी? तो मैंने जो त्यागा है, ज़हर ही तो त्यागा है और अमर्त्य बनने के लिए त्यागा है।

हम इस पर विचार करते हैं तो सचाई तैरती हुई मालूम होती है। और वह सचाई उस जनता के लिए निकल कर आती है, जो कहती है कि अमुक का त्याग महान् है, आदर्श है, अमुक ने हज़ारों और लाखों का त्याग किया है!

लोग तत्त्व पर विचार नहीं करते और संख्या तथा परिमाण का ही हिसाब लगाया करते हैं। एक आदमी ने दुनियां भर की सम्पदा इकट्ठी कर रक्खी है और उसमें से हज़ार, दो हज़ार का दान दे देता है तो धूम मच जाती है—हलचल पैदा हो जाती है। और एक साधारण ग़रीब आदमी अपनी हैसियत से ज़्यादा एक रुपया दान कर देता है तो उसके लिए कोई आवाज़ ही नहीं उठती।

यहाँ विचार करने की आवश्यकता है। एक चींटी ने अपने रक्त की एक बूँद दे दी तो उसके लिए वही बहुत है। और एक हाथी सेर दो सेर खून दे दे तो उसका क्या है? मैं समझता हूँ कि चींटी के रक्त की एक बूँद का जितना महत्त्व है, हाथी के सेर दो सेर रक्त-दान का उतना महत्त्व नहीं है।

इसी दृष्टिकोण से—तात्त्विक दृष्टि से हमें विचार करना चाहिए और संख्याओं के फेर में नहीं पड़ना चाहिए। संख्याएँ झूठी हैं और तत्त्व सत्य है और हमें सत्य को ही अपनाने की

आदत डालनी है।

एक बार बुद्ध वैशाली मे पहुँचे तो लोग हीरों और मोतियों के बड़े-बड़े थाल भर कर भेंट करने के लिए लाए और समझे कि हमने बड़ा भारी त्याग किया है। उस युग की परम्परा थी कि भेंट पर हाथ रख दिया जाता था और उसका मतलब यह होता था कि यह भेंट स्वीकार कर ली गई है।

बुद्ध के सामने हीरों और मोतियों के रूप में लाखों की सम्पत्ति आई और उन्होने उस पर अपना हाथ रख दिया। उसके बाद एक बुढ़िया आई। वह मालिन थी। उसके पास मुश्किल से आधा अनार बचा हुआ था। बुढ़िया वही अनार लेकर आई और उसने ज्योंहीं वह भेंट के रूप मे रक्खा कि बुद्ध ने उसके ऊपर दोनों हाथ रख दिये।

बड़े-बड़े धनी वहाँ मौजूद थे और वे लाखों के जवाहरात समर्पित कर चुके थे। अपनी भेंट की महत्ता का अनुभव करके वे अकड़े हुए बैठे थे। उन्होंने बुद्ध का यह व्यवहार देखा तो हैरान और चकित रह गये। उन्होने कहा—यह क्या हो गया? हमने इतना बड़ा दान दिया तो उस पर केवल एक हाथ रक्खा और इस बुढ़िया के आधे अनार के टुकड़े पर दोनो हाथ रख दिये! इसका क्या कारण है?

आखिर किसी ने पूछ लिया—भदन्त! इस बुढ़िया के इस तुच्छ दान को इतना महत्त्व क्यों मिला है?

बुद्ध ने कहा—तुम अभी समझे नहीं। तुम्हारे पास तो इस

धन को देने के बाद भी बहुत-सा धन बच गया होगा; परन्तु इस बेचारी के पास क्या बचा है? इसने तो आधे अनार के रूप में अपना सर्वस्व ही मुझे सौंप दिया है! बड़े से बड़े दान का मोल हो सकता है, पर सर्वस्व-दान अनमोल है। बुढ़िया के इस सर्वस्वदान की तुलना साम्राज्यदान से भी नहीं की जा सकती। इसीलिए मैंने उस पर दोनों हाथ रक्खे हैं।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि वस्तु कोई मुख्य चीज़ नहीं है, वरन् उसके पीछे जो तमन्ना है, इच्छा है और भावना है, वही मुख्य है। इस तरह परिग्रह की आधारशिला इच्छा है, वस्तु नहीं।

यह तो आपको मालूम ही है कि संसार मे जितने भी सम्प्रदाय हैं और उनमें दीक्षित होने वाले साधक है, सभी कुछ न कुछ उपकरण रखते हैं। सम्भव है, कोई कम रक्खे और कोई अपेक्षाकृत अधिक! मगर उपकरणों के सर्वथा अभाव में किसी का काम नहीं चल सकता। और जब शरीर के साथ उपकरणों की अनिवार्य आवश्यकता है और वे रक्खे भी गये हैं तो उनके प्रति निर्ममत्त्व भाव के अतिरिक्त और क्या सम्भव हो सकता है? बस, यही ममत्व का अभाव अपरिग्रह है। इसके विरुद्ध अगर हम वस्तु को परिग्रह मानने चलेंगे तो शिष्य भी परिग्रह हो जायगा। ऐसी दशा में कोई भी अपरिग्रही मुनि दीक्षा कैसे दे सकता है और शिष्य कैसे बन सकता है? परन्तु हम देखते हैं कि प्राचीन काल में भी दीक्षाएँ दी जाती थीं और आज भी

दीक्षाएँ दी जा रही हैं और इसी रूप में हज़ारों वर्षों से गुरु-शिष्य की परम्परा जारी है।

हाँ, यह ठीक है कि किसी को अपने शिष्य पर अगर मोह है तो वह उसके लिए परिग्रह ही है।

भगवान् सुधर्मा स्वामी एक बार कहीं जा रहे थे। रास्ते में उन्हे एक लकड़हारा मिला। उसकी ज़िन्दगी किनारे पर जा लगी थी। सारे बाल सफ़ेद हो चुके थे। वह सिर पर लकड़ियों का भार लादे, हाँफता-हाँफता जा रहा था। भगवान् सुधर्मा स्वामी को बूढ़े की यह दशा देख कर बड़ी दया आई। दयाद्रवित हृदय से उन्होंने उससे पूछा—वृद्ध तुम्हारे परिवार में कौन है?

वृद्ध—मेरे परिवार में मैं ही हूँ, और कोई भी नहीं।

सुधर्मा स्वामी—क्या रोज़गार करते हो?

वृद्ध—महाराज, मैं लकड़ियाँ काट कर बेचता हूँ।

सुधर्मा स्वामी—रहने को मकान है?

वृद्ध—हाँ, उसे मकान ही कहना चाहिए। टूटा-फूटा खंडहर-सा है। उस पर घास-फूस छाकर ठीक कर लेता हूँ। बरसात का मौसम आता है तो ख़राब हो जाता है और जब ख़राब हो जाता है तो फिर छा लेता हूँ। बस, ज़िन्दगी में यही काम किया है और यही कर रहा हूँ।

सुधर्मा स्वामी—भैया, क्या इसी तरह सारा का सारा जीवन समाप्त कर दोगे? परलोक के लिए भी कुछ कमाओगे या नहीं? कुछ सत्कर्म नहीं करोगे तो परलोक में क्या गति होगी?

वृद्ध—महाराज, सारा जीवन तो रोटी की समस्या मे ही गला जा रहा है। और फिर कुछ जानता भी नही कि परलोक के लिए क्या करूँ। मुझ जैसे ग़रीब को कौन परलोक के लिए शुभ राह बतलावे। कौन इस जरा-जीर्ण बुड्ढे को आश्रय दे ?

बुड्ढे की दुर्दशा देखकर उसके आन्तरिक संताप से सुधर्मा स्वामी का नवनीतोपम मृदुल हृदय पिघल गया। उन्होने करुणा-प्रेरित होकर कहा—भद्र, तुम चाहो तो संघ तुम्हें शरण देगा। तुम भिक्षु बन कर परलोक सुधार सकते हो।

सुधर्मा स्वामी की यह स्वीकृति वृद्ध के लिए दिव्य वरदान थी। वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और स्वामी जी के साथ हो गया। उन्होंने वृद्ध को शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया।

क्या सुधर्मा स्वामी का बनाया हुआ वह शिष्य परिग्रह था ?

नहीं, उनकी वृत्ति ऐसी नहीं थी कि यह शिष्य बन जायगा तो मेरी सेवा करेगा, पगचंपी करेगा या आहार-पानी लाकर देगा! उनकी वृत्ति में वृद्ध के प्रति विशुद्ध करुणा का ही भाव था। उसे संघ में स्थान देकर उसके जीवन का कल्याण करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था।

भगवान् महावीर से पूछा गया—शिष्य परिग्रह है या नहीं ?

भगवान् ने उत्तर दिया—शिष्य परिग्रह है भी और नहीं भी है। अगर कोई गुरु दीक्षा देकर शिष्य से यह आशा करता है या इस आशा से दीक्षा देता है कि यह गोचरी-पानी ला देगा, पैर दबा देगा, सेवा करेगा तो यह परिग्रह है। और यदि यह

मनोवृत्ति हो कि यह साधु बनकर अपने जीवन का कल्याण करेगा, समय आने पर मुझे भी धर्म सहायता देगा और संघ की निष्काम सेवा करेगा, तो वह परिग्रह नहीं है।

प्राचीन काल में भी उपर्युक्त दोनों प्रकार की मनोवृत्तियाँ पाई जाती थीं, फिर चाहे वह सतयुग रहा हो या कलियुग। अच्छी मनोवृत्ति तो संस्कारी आत्मा में मिलती है। युग से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। त्रेतायुग में राम पैदा हुए थे तो क्या रावण नहीं पैदा हुआ था? अगर वह राम का युग था तो रावण का भी युग था। कृष्ण का युग था तो कंस का भी युग था। धर्मराज का युग था तो दुर्योधन का भी युग था। प्रत्येक युग में विविध और परस्पर विरोधी मनोवृत्तियाँ पाई जाती रही हैं।

जिसे आप सतयुग कहते हैं, उस युग में होने वाले अन्यायों और अत्याचारों पर जब विचार करते हैं तो कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उन अन्यायों की आज, इस कलियुग में पुनरावृत्ति भी नहीं हो सकती। दुर्योधन की राजसभा में, भारत के प्रमुख पुरुषों के समक्ष और धर्मराज के भी समक्ष, द्रौपदी जैसी अत्यन्त प्रतिष्ठित, राजतनया और राजपत्नी महिला नंगी की गई। क्या आज शिष्ट पुरुषों के समाज में ऐसा किया जा सकता है! फिर भी वह द्वापर था और आज घोर कलियुग है।

सतयुग और कलियुग मनुष्य द्वारा कल्पित हैं और केवल

व्यवहार के लिए गढ़ लिए गये हैं। अगर हमारे जीवन में सचाई है तो आज भी सतयुग है और बुराई है तो कलियुग है। वास्तव में हमारा जीवन ही सतयुग और कलियुग है। यह तो है नहीं कि सतयुग में और चाँद-सूरज हों और कलियुग में और हों। वही चांद-सूरज हैं, वही हवाएँ है। प्रकृति के नियम अटल हैं।

बहुधा हम जीवन की अच्छाइयों को प्राप्त करते समय युगों पर अड़ जाते हैं। कहने लगते है—'कलियुग है भाई, कलियुग है। अरे, यह तो पाँचवाँ आरा है। इसमें तो कोई विरला ही पाप से बच सकता है; और इस प्रकार कह कर हम अपने जीवन की उज्ज्वलताओं के प्रति निराश और हताश हो जाते हैं। अपनी दुर्बलताओं का प्रसार होने देते है। बहुत बार अपने दोषो को युग के आवरण मे छिपाने का प्रयत्न करते है, अपनी मानी हुई अक्षमता के प्रति सहनशील बन जाते है।

बहुत बार देखा जाता है कि एक मनुष्य जब किसी बुराई में पड़ा होता है तो वह कहने लगता है—अमुक बुराई तो उसमे भी है और उसमे भी है। यह कह कर वह समझता है कि हम अपने विषय में सफाई पेश कर रहे हैं, मगर ऐसा कहने से क्या उसकी बुराई, बुराई नही रहती? जो बुराई दूसरों में और अनेकों में हो, वह क्या बुराई नहीं है!

दूसरों को उसी बुराई का पात्र बतला देने मात्र से आप उस बुराई से बरी नहीं हो सकते। बल्कि ऐसा करके आप

अपनी बुराई को बढ़ावा देंगे और उससे छुटकारा नहीं पा सकेंगे।

अभिप्राय यह है कि युग का बहाना करके अथवा दूसरे व्यक्तियों का बहाना करके आप अपनी किसी भी बुराई को सहन न करें। जैसे आप अपने पड़ौसी की बुराई को देख कर सहन नहीं कर सकते, उसी प्रकार अपनी बुराई को भी सहन न करें। आपके जीवन की मोड़ सत्य की ओर होनी चाहिए। दूसरों की नुक्ताचीनी से हमारा सुधार होने वाला नहीं है।

जब आप अपने पड़ौसी को लखपति या करोड़पति के रूप में देखते है और दिन-रात तृष्णा-राक्षसी के पंजे में फँसा देखते है, तो आप उसका अनुकरण करने लगते हैं। आप अपने हृदय में भी तृष्णा को जगा लेते हैं और सब कुछ भूल कर धनोपार्जन करने में जुट जाते हैं। सोचते हैं—यह इतना धनाढ्य होकर भी जब अपनी इच्छाओं और लालसाओं को आगे बढ़ने से नहीं रोकता तो मैं कैसे रोकूँ ? परन्तु जीवन का यह आदर्श नहीं है। आपको तो तात्त्विक दृष्टि से विचार करना चाहिए। तात्त्विक दृष्टि से विचार किये बिना परमार्थ की उपलब्धि नहीं हो सकती।

अगर आपने समझ लिया है कि इच्छाओं को कहीं समाप्ति नहीं है, लालसाओं का कहीं अन्त नही है, एक क्या अनन्त जीवन धारण करके भी तृष्णा की पूर्ति नहीं हो सकती है और इनके वशीभूत होकर मनुष्य कहीं भी और कभी भी, शान्ति

नहीं पा सकता है , तो फिर दूसरो का अनुकरण क्यों करते हो ? दूसरे तृष्णा की ज्वालाओं मे पतंगों की तरह कूद रहे हैं तो तुम क्यों उनके पीछे कूदते हो ?

जब तुम समझते हो कि यह मार्ग हमें अभीष्ट लक्ष्य पर नहीं पहुँचा सकता और लक्ष्य से दूर और दूरतर ही ले जा कर छोड़ देने वाला है तो क्यों आँख मींच कर दूसरो के पीछे लगते हो ? तुम्हारी तत्त्वदृष्टि ने जो मार्ग तुम्हें सुझाया है, उसी पर चलो ।

तुम अन्धानुकरण न करो, आँख खोलकर सही रास्ते पर चलो । चलोगे तो तुम्हारा अनुकरण करने वाले भी मिल जाएँगे !

आज की दुनियाँ में परिग्रह के लिए जो अविश्रान्त दौड़-धूप हो रही है, उसके अन्यान्य कारणों के साथ अनुकरण भी एक मुख्य कारण है। आज धनी बनने की होड़ लग रही है। प्रत्येक एक-दूसरे से बड़ा धनी बनने की इच्छा रखता है। और इसी 'चाह' ने समग्र विश्व को संघर्षों की क्रीड़ास्थली बना रक्खा है। इस चाह ने जैसे व्यक्तिगत जीवन को अशान्त और असन्तुष्ट बना दिया है, उसी प्रकार राष्ट्रों को भी अशान्त और असन्तुष्ट बना रक्खा है। नतीजा जो है वह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

आखिर इस परिस्थिति का अन्त कहाँ है ? किसी सीमा पर पहुँच कर व्यक्ति और राष्ट्र अपनी दौड़ समाप्त करेंगे भी या नहीं ?

कई लोग कहते हैं—सन्तोष तो नपुंसकों का शास्त्र है। सन्तोष की शिक्षा ने मनुष्य को हतवीर्य, उद्यमहीन और अकर्मण्य बना दिया है। वह जीवन की प्रगति में जबर्दस्त दीवार है।

मैं कहता हूँ—भौतिकवाद के हिमायती और ऐसा कहने वाले लोग जीवन की कला से अनभिज्ञ हैं। उन्होंने जीवन के 'शिव' को पहचाना ही नहीं है। वे भौतिक विकास और प्रगति को ही महत्त्व देते हैं और जीवन की सुख-शान्ति की उपेक्षा करते हैं। इसी दृष्टिकोण का अर्थ होगा—अनन्त-अनन्त काल व्यतीत हो जाने पर भी पारस्परिक संघर्षों का जारी रहना, प्रतिस्पर्धाओं का बढ़ते जाना और दौड़-धूप बनी रहना। जहाँ सन्तोष को कोई स्थान नहीं, वहाँ विराम कहाँ और विश्राम कहाँ? वहाँ दौड़ना और दौड़ते रहना ही मनुष्य के भाग्य में लिखा है और उसे इतना भी अवकाश नहीं है कि वह अपनी दौड़ के नतीजे पर घड़ी भर सोच-विचार भी कर सके।

सन्तोष को कायरों का लक्षण समझना तो और भी बड़ा अज्ञान है। अपनी लालसाओं पर नियन्त्रण स्थापित करना सन्तोष कहलाता है और लालसाओं पर नियन्त्रण करने के लिए अन्तःकरण को जीतना पड़ता है। अन्तःकरण को जीतना कायरों का काम नहीं है। इसके लिए तो बड़ी वीरता चाहिए। शास्त्रकारों ने भी कहा है—

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणिज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥—उत्तराध्ययन

एक मनुष्य विकट संग्राम करके लाखों योद्धाओं पर विजय प्राप्त करता है तो निस्सन्देह वह वीर है; किन्तु जो अपनी अन्तरात्मा को जीतने में सफल हो जाता है, वह उससे भी बड़ा वीर है। अन्तःकरण को जीत लेने वाले की विजय उत्तम और प्रशस्त विजय है।

रावण बड़ा विजेता था। संसार के वीर पुरुष उसकी धाक मानते थे और कहते है, अपने समय का वह असाधारण योद्धा था। किन्तु वह भी अपने अन्तःकरण को अपने क़ाबू मे न कर सका, अपनी लालसाओं पर नियन्त्रण क़ायम न कर सका। और उसकी इस निर्बलता का परिणाम यह हुआ कि उसे इसी चक्कर में फँसकर मर जाना पड़ा। उसने अपने परिवार को और साम्राज्य को भी धूल मे मिला लिया—और इस प्रकार अपने असन्तोष के कारण अपना सर्वनाश कर लिया।

रावण की कहानी पौराणिक कहानी है और बहुत पुरानी हो चुकी है, उसे जाने दीजिए। आधुनिक युग के एक वीर विजेता हिटलर की जीवनी को ही देखिए। हिटलर को या उसके देश जर्मनी को कोई आवश्यकता नहीं थी कि वह समग्र यूरोप पर अपना अधिकार करे और ऐसा किये बिना वह जीवित न रह सकता हो। फिर भी उसने विजय के लिए अभियान किया और एक-एक करके अनेक देशों को जीत लिया। मगर 'जहा लाहो तहा लोहो' अर्थात् ज्यों-ज्यों लाभ होता गया, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता गया और असन्तोष बढ़ता गया—तो, उसकी

फौजें भी बढ़ती चली गईं। आखिर उसका असन्तोष उसे रूस में ले गया और वहीं उसने उसका खात्मा कर दिया।

अभिप्राय यह है कि अनेक देशों को जीत लेने पर भी हिटलर अपनी लोभवृत्ति को नहीं जीत सका था। इसीसे अन्दाज़ा लगा लीजिए कि उसे जीतने के लिए कितने बड़े शौर्य की आवश्यकता है? ऐसी स्थिति में यह कहना नितान्त भ्रमपूर्ण है कि सन्तोष नपुंसकों का शस्त्र है। वस्तुतः सन्तोष असाधारण वीरता का परिचायक है और वही समष्टिगत और व्यष्टिगत जीवन को सुखमय बना सकता है।

इस सन्तोष का आविर्भाव इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने पर होता है और इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उसकी प्रथम मंज़िल इच्छा-परिमाण पर आप अपना सुदृढ़ क़दम रक्खें। अगर आप अपने जीवन को सुखमय बनाना चाहते है, शान्तिपूर्ण और निराकुल बनाना चाहते हैं तो आपके लिए एक ही मार्ग है—आप इच्छापरिमाण के पथ पर चलें। जो इस पथ पर चले हैं, उन्होंने अपना कल्याण किया है और जो चलेंगे वे भी अपना कल्याण करेंगे और दूसरों का भी।

ब्यावर
२१-११-५०

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा द्वारा प्रकाशित कुछ अन्य पुस्तकें—

(१)	श्रमणसूत्र	कवि श्री	अमरचन्द जी म०	५॥)
(२)	जीवन के चलचित्र	,,	,,	२)
(३)	जैनत्व की झांकी	,,	,,	१)
(४)	अमर माधुरी	,,	,,	१)
(५)	आवश्यक दिग्दर्शन	,,	,,	१॥)
(६)	भक्तामर	,,	,,	।-)
(७)	कल्याण मन्दिर	,,	,,	॥)
(८)	वीर स्तुति	,,	,,	।-)
(९)	आदर्श कन्या	,,	,,	॥।)
(१०)	सामायिक सूत्र पाठशाला सं०		,,	।=)
(११)	काँटों के राही	श्री इन्द्रचन्द्र एम. ए.		१॥)
(१२)	सोलह सती	श्री रत्नकुमार 'रत्नेश'		२)
(१३)	महासती चन्दनबाला—	श्री शान्तिस्वरूप गौड़		३)
(१४)	संगीत माधुरी	श्री सुरेश मुनि		॥।)
(१५)	सन्मति महावीर	,,		१।)